प्रेमचंद—
उनकी कृतियाँ और कला

प्रेमनारायण टंडन, एम० ए०, साहित्यरत्न

प्रेमचंद : उनकी कृतियाँ और कला

संपादक

प्रेमनारायण टंडन, एम० ए०, साहित्यरत्न

प्रकाशक

प्रयाग पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण १०००

१६४२

मूल्य १।)

देवकुमार मिश्र द्वारा हिंदुस्तानी प्रेस,
बाँकीपुर, पटना में मुद्रित

दो शब्द

प्रेमचंद-साहित्य में इस पुस्तक का महत्त्वपूर्ण स्थान होगा, यह तो कोई भी इसे देखते ही कह देगा। इसमें प्रेमचंद, उनकी कला तथा उनकी कला-कृतियों पर भिन्न-भिन्न दृष्टि रखनेवाले समालोचकों-द्वारा प्रकाश डाला गया है। यदि एक ही कथालेखक से समालोचक अलग-अलग तत्त्व पा सकते हैं तो यह उसके बड़प्पन का दृढ़ प्रमाण है। प्रेमचंद के विद्यार्थियों को तो इससे लाभ होगा ही, साधारणतः प्रेमचंद तथा हिंदी कथा-साहित्य में रुचि रखनेवालों का भी इससे विशेष मनोरंजन होगा, इसमें संदेह नहीं।

इसमें संकलित लेख विभिन्न अवसरों पर लिखे गये हैं। उनकी तिथि दे दी जाती तो और अच्छा था। श्री कालिदास कपूर को 'सेवासदन' की आलोचना करते समय प्रेमचंद के भविष्य के लिये शुभ कामनाएँ प्रकट करते हुए देखकर पाठकों को कुतूहल होगा। रंगभूमि की आलोचना करते हुए जब प्रेमचंद के भविष्य के लिये विश्व के उपन्यासकारों में एक विशिष्ट स्थान निर्धारित करते हैं, तब हमें उनकी दूरदर्शिता और उनके आत्मविश्वास पर गर्व होता है। इस संकलन में कपूरजी के अनेक लेख देखकर पहले मैं चौंका था ; परंतु उन्हें पढ़ने पर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई। जो बातें हम आज कह रहे हैं, उन्हें कपूरजी ने पहले और जोरदार शब्दों में कहा था। उन्होंने प्रेमचंदजी में जो दोष दिखाये हैं, उनका कोई महत्त्व नहीं है। यह दोषदर्शन हास्यास्पद है—जैसे 'प्रेमाश्रम' में कोई सूची नहीं, क्लिष्ट उर्दू शब्दों के अर्थ नहीं दिये गये, दिहाती शब्दों के शुद्ध रूप नहीं दिये गये और किसी चित्रकार से सहायता नहीं ली गयी ! परंतु, जैसे इन दोषों का महत्त्व नहीं है, वैसे ही इस प्रकार के दोषदर्शन से कपूरजी की आलोचना का महत्त्व कम नहीं होता।

इस संकलन में उपन्यासों पर लेख अधिक हैं ; कहानियों का जिक्र यों ही जहाँ-तहाँ आ गया है। बहुत-से लोग प्रेमचंद को उपन्यासकार

से अधिक एक सफल कहानी-लेखक मानते हैं। यद्यपि मैं उन लोगों में नहीं हूँ, फिर भी कहानियों पर दो-चार लेख देना वांछनीय था।

उपन्यासों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उनकी समस्याओं के पूरे उलझाव-सुलझाव को समझें। मैं सत्येंद्रजी के इन शब्दों को रेखांकित कर देना चाहता हूँ कि "सामाजिक पाप अर्थ-विधान के दूषित प्रभावों का ही विकृत परिणाम है।"

इस पुस्तक में 'निर्मला' का जिक्र अलग से नहीं आया। केवल कथा-संगठन की दृष्टि से वह उनका श्रेष्ठ उपन्यास है। जो लोग समझते हैं कि प्रेमचंद को कथा कहना न आता था, वे 'निर्मला' को पढ़ें।

प्रेमचंद के उपन्यासों में कथा की शिथिलता वर्ग-चित्रण के कारण है। जहाँ जमींदार, मध्यवर्ग, किसानों, हाकिमों आदि का एकसाथ चित्रण होगा, वहाँ एक गठी हुई कथा रखना असंभव ही नहीं, घातक भी है।

कुछ आलोचकों ने जहाँ-तहाँ ऐसे वाक्य लिख दिए हैं जो तर्क से बहुत दूर जा पड़े हैं। प्रेमचंद ने यह कभी न सोचा था कि "नगर में विलास है, पाप है—ग्राम में सरलता है, महत्ता है, दुख है।" उनके जमींदार गाँवों में ही रहते थे।

प्रेमचंद की तुलना जब अन्य भारतीय या अ-भारतीय उपन्यास-कारों से की जाय, तो श्री कालिदास कपूर की इस बात को याद रखना चाहिए—"भारत का हृदय कलकत्ते की गलियों में नहीं है, न वह शिक्षित जनों की अट्टालिकाओं में है। उसका हृदय दिहात में है, किसान के टूटे-फूटे झोंपड़ों में है। हरे-भरे खेतों को देखकर उसे शांति मिलती है। अनावृष्टि से वह सूख जाता है।" उस हृदय का मार्मिक चित्र प्रेमचंद ने बड़ी कुशलता से खींचा है। उनके चित्र की सजीवता उनकी अपनी है; उनकी कुशलता विश्व के महान कलाकारों जैसी है।

—*रामविलास शर्मा*

(एम० ए०, पी-एच० डी०)

निवेदन

प्रस्तुत संकलन के संबंध में मुझे अधिक नहीं कहना है। हिंदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार श्री प्रेमचंद की कृतियों के विधिवत् अध्ययन करने और उनका यथार्थ मूल्य आँकने में यदि इससे कुछ भी सहायता मिली, तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूँगा।

जिन विद्वान् लेखकों की सुंदर कृतियों का इसमें संग्रह है, उनको मैं धन्यवाद देता हूँ।

प्रेमचंद-साहित्य के सहृदय समालोचक डा० श्री रामविलास शर्मा पी-एच. डी. ने भूमिका लिखने की कृपा की है। अगले संस्करण में उनके निर्देशों से लाभ उठाने का प्रयत्न करूँगा।

रानीकटरा, लखनऊ
८–१०–४२

प्रेमनारायण टंडन

This book is very good
Everybody should take this book.

~~In~~ our Vedas contain
literature, philosophy, science, and
everything

विषय-सूची

प्रेमचंद की कृतियाँ

प्रेमचंद की कला

सेवासदन

१

रीतिकाल में भारतीय विचार-धारा कुछ ऐसी स्थिर हो गयी थी कि उसमें परिवर्तन उत्पन्न करना प्राय: असंभव था। एक से एक उच्च कोटि के कलाकार अपनी दैवी प्रतिभा का प्रयोग नख-शिख नायिका-भेद और अलंकार वर्णन में ही करते थे। यह अवस्था साहित्यिक स्वास्थ्य के लिये हितकर नहीं थी। अनेक वर्षों से जो भावनाएँ चली आ रही थीं, उनका प्रवाह, उनकी गति एक प्रकार से अवरुद्ध हो गयी थी (रुक गयी थी) और उसमें रोग के कीटाणु घर करने लगे थे। यद्यपि इस दशा में सुधारकों (राममोहन राय, दयानंद आदि) द्वारा कुछ संशोधन हुआ था ; फिर भी परिवर्तन की वेगवती धारा की अभी आवश्यकता बनी थी। हमारा एक वर्ग इसी अवस्था से चिपटा हुआ था; दूसरी ओर एक ऐसा वर्ग भी उत्पन्न हो चला था, जो पश्चिम की शैली और पश्चिम के विचारों से प्रवाहित हो रहा था। आवश्यकता थी एक ऐसे कुशल कलाकार की, जो पश्चिम की इस शैली में भारतीय-आत्मा को भर सके और साथ ही शताब्दियों से चले आये विचारों को परिवर्तित कर सके। इन दोनों बातों का सामंजस्य हमें अमर कलाकार स्व० प्रेमचंदजी की कृतियों में दिखायी दिया।

प्रेमचंदजी ने भारतीय आदर्शों की प्रतिष्ठा की। 'प्रेमद्वादशी' में उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है—"मैंने नवीन कलेवर में भारतीय आत्मा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है। पश्चिमी आदर्शों से एकदम भिन्न भारतवर्ष की यह आत्मा पतिव्रत धर्म, एक स्त्री-व्रत की भावना धार्मिकता, परलोक में विश्वास (भाग्यवाद) आदि आदर्शों में प्रकट हुई है। इन भावनाओं पर भारतवर्ष की छाप लगी हुई है। प्रेमचंदजी के ग्रंथों में किसी न किसी रूप में इन आदर्शों का अभिव्यंजन हुआ है। इसके साथ ही उनके ग्रंथों में गाँधीवाद की भी छाप है; परन्तु सबसे बढ़कर उनकी रचनाओं में कदाचित यह भावना है कि पापी-जीवन व्यतीत करने-वाला व्यक्ति भी पवित्र होने की संभावना रखता है। प्रेमचंदजी के हृदय में समाज के उस अंग के प्रति भी स्थान है, जो किसी कारणवश हेय दृष्टि से देखा जाता है। वेश्याओं का समुदाय और अछूतों का जीवन उनके निकट त्याज्य नहीं है। यह अंग भी समाज के लिये उपयोगी बन सकते हैं। पापी से पापी जीवन के अंदर भी पवित्रता के अंकुर निहित हैं। ये अंकुर उचित परिस्थिति को पाकर सदाचार के महान् वृक्ष में परिवर्तित हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में प्रेमचंदजी भारतीय आदर्शों के अनुकूल आत्मा की अनवरत परिशुद्धि में विश्वास रखते हैं।

'सेवासदन' इसी मंगल आदर्श को सम्मुख रखता है। सुमन जो 'सेवासदन' की मुख्य पात्रा है, और जिसका जीवन सेवासदन की समस्त घटनाओं का केन्द्र है, यद्यपि बीच में पथ से विचलित हो जाती है; पर अंत में वेश्याओं की छोटी लड़कियों के सुकुमार हृदयों का संस्कार करने के लिये अपने जीवन का उत्सर्ग कर देती है।

'प्रसाद' ने जहाँ अपने उपन्यासों में दानव में मानव और मानव में दानव छिपा हुआ दिखलाया है, बड़े से बड़े पापी को पवित्र और पवित्र को पापी के रूप में अंकित किया है—एक प्रकार से हमारे आजकल के जीवन का नग्न रूप उपस्थित किया है, वहाँ प्रेमचन्दजी ने अपने उपन्यासों के द्वारा हमारे जीवन को परिष्कृत करने का प्रयत्न किया है। संस्कृत का समग्र साहित्य और हिन्दी का प्राचीन साहित्य जिस क्षेत्र में पैर न रख सका, उस क्षेत्र में प्रेमचन्द ने अवतीर्ण होकर यह प्रदर्शित किया कि हम इस बाँध को तोड़ सकते हैं—अपने सामाजिक जीवन को उन्नत बना सकते हैं। रूढ़ियों और अंध-विश्वासों के लिये उन्होंने समाज को दोषी ठहराया। पृष्ठ ३०२ में सदन के शब्दों में उन्होंने समाज की रूढ़ि-बद्धता इस प्रकार प्रकट की है—"इस अन्याय को मैं स्वीकार करता हूँ। लेकिन यह अन्याय हमने नहीं किया; वरन् उस समाज ने किया है, जिसमें हम लोग रहते हैं।" यदि समाज परिवर्तित हो जाय, तो उसके साथ यह अन्याय भी दूर हो सकता है और समाज का परिवर्तन कोई दुष्कर कार्य नहीं है।

इसी भावना के साथ-साथ प्रेमचन्दजी ने स्त्रियों के सम्मान की भी भावना प्रकट की है। गजानंद, सुमन को निकाल देने पर पाश्चात्ताप करते हैं और अनुभव करते हैं कि समाज में स्त्रियों का आदर अवश्य होना चाहिये। पृष्ठ ३७२ में गजानंदजी कहते हैं—"आदर या प्रेम-विहीन महिला महलों में भी सुख से नहीं रह सकती। स्त्री फटे-पुराने वस्त्र पहनकर, आधे पेट सूखी रोटी खाकर, मिहनत-मजूरी कर, झोपड़ी में रहकर आनन्द से जीवन व्यतीत कर सकती है—केवल घर में उसका आदर होना चाहिये; उससे प्रेम होना चाहिये। प्रेमचन्दजी ने राष्ट्र की उठती हुई

भावनाओं को भी 'सेवासदन' में स्थान दिया है। देश-प्रेम, मातृभाषा-प्रेम, हिंदू-मुसलिम-ऐक्य आदि कई ऐसे भाव हैं, जो 'सेवासदन' में स्थान-स्थान पर अपना प्रकाश कर रहे हैं। यदि हमारे व्यावहारिक जीवन में कहीं त्रुटि है, तो उसपर भी इस कलाकार का ध्यान गया है। पृष्ठ ३४६ में सुधारकों को चेतावनी देते हुए वे लिखते हैं--"जब तक अन्तःकरण दिव्य और उज्ज्वल न हो, वह प्रकाश का प्रतिबिम्ब दूसरों पर नहीं डाल सकता।" आगे उन्होंने लिखा है—"हम वह काम करना चाहते हैं जिससे हमारा "नाम प्राणि-मात्र की जिह्वा पर हो। कोई ऐसा लेख अथवा ग्रंथ लिखना चाहते हैं जिसकी लोग मुक्त-कंठ से प्रशंसा करें और प्राय: हमारे इस स्वार्थ-प्रेम का कुछ न कुछ बदला मिल भी जाता है; लेकिन जनता के हृदय में हम घर नहीं कर सकते।" हमारे आजकल के नेताओं का इन वाक्यों में कैसा चित्र खींच दिया गया है।

'सेवासदन' के लेखक में अतुलनीय अनुभव-शक्ति है। उसका हृदय जीवन की नाना प्रकार की परिस्थितियों के साथ तादात्म्य रखता है। ग्रामीण जीवन का वर्णन करते हुए प्रेमचंदजी एक चित्र-सा खड़ा कर देते हैं, जिसमें स्वाभाविकता के साथ मार्मिकता का समावेश रहता है। उनकी कृतियों में जीवन का सच्चा रूप प्रकट हुआ है। गंगाजली और उसकी दोनों बेटियाँ पुलिस के पंजे में फँसे हुए कृष्णचंद को चलते समय जब पकड़ने की चेष्टा करती हैं, उस समय करुणा का मूर्तिमान रूप पाठकों के सामने खड़ा हो जाता है। गंगाजली अपने भाई के घर पर बीमार पड़ती है और उमानाथ उसकी दशा पर शोक प्रकट करते हुए वैद्य को लिवाने जाते हैं तो उनकी स्त्री जाह्नवी उनपर टूट पड़ती है और कहती है—"हाँ, हाँ दौड़ो, वैद्य को

बुलाओ, नहीं तो अनर्थ हो जायगा। अभी पिछले दिनों महीनों मुझे ज्वर आता रहा तब वैद्य के पास न दौड़े। मैं भी ओढ़कर पड़ रहती तो तुम्हें मालूम होता कि इसे कुछ हुआ है; लेकिन मैं कैसे पड़ रहती, घर की चक्की कौन पीसता ?"

इन वाक्यों में एक साधारण स्त्री का वैमनस्यपूर्ण हृदय प्रकट हुआ है। न केवल हिंदुओं की पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक समस्याओं को प्रेमचंदजी ने सुलझे हुए रूप में रक्खा है, प्रत्युत् मुसलमानों के हृदय की बातों का भी अत्यंत स्पष्टता और सहृदयतापूर्वक वर्णन किया है। म्युनिसिपैलिटी के कई मुसलमान सदस्य पं० पद्मसिंह शर्मा के प्रस्ताव के साथ हैं। ये मुसलमानों के उस दल के प्रतिनिधि हैं, जिनके दिल में सचाई है, और जो देश के उत्थान में हिन्दुओं के कंधे से कंधा मिलाकर काम करना चाहते हैं। अबुलवफा और उनके साथी मुसलमानों के दूसरे दल के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। डाक्टर श्यामाचरण और उनकी पुत्री के शतरंज खेलने का वर्णन, अध्यापिका के दिये हुए प्रमाणपत्र दिखलाने का भाव तथा उसकी अंग्रेजी में निपुणता की बात हमारे आजकल के अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा में पले हुए परिवार की-सी गाथा प्रतीत होती है। स्थान-स्थान पर प्रेमचंदजी ने जीवन-संबंधी अपने इस अनुभव को प्रकट किया है। प्रसंगों के वर्णन में तो वह है ही, साथ ही ऐसी उक्तियों द्वारा भी प्रकट हुआ है, जो किसी घटना पर सिंहावलोकन करते समय उनके मुख से निकल पड़ी हैं—पृष्ठ ३११ में सदन नाव लेने के लिए रुपयों का प्रवन्ध सोच रहा है, नाव मिल जाने पर वह किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करेगा, इसे कल्पना की दृष्टि से निश्चित करता जाता है। परन्तु, अकस्मात् रुपये प्राप्त न होने का विचार उसके सब मनसूबों पर पानी फेर देता है। प्रेमचंदजी

इस प्रसंग की समालोचना करते हुए कितने सुंदर शब्दों में अपना अनुभव प्रकट करते हैं—"युवाकाल की आशा पुआल की आग है, जिसके जलने और बुझने में देर नहीं लगती।" एक अन्य स्थान पर सुख-दु:ख-मिश्रित जीवन की वास्तविकता को प्रकट करते हुए वे लिखते हैं—"लहर यदि मीठे स्वरों में गाती है, तो भयंकर ध्वनि से गरजती भी है। हवा अगर लहरों को थपकियाँ देती है, तो कभी-कभी उन्हें उछाल भी देती है।" पृष्ठ ३१४। किसी काम के करने में हम बहुत आगा-पीछा करते हैं; परन्तु जब एक भाव दृढ़ता को प्राप्त होता है अथवा परिपक्व हो जाता है तो हम किसी के कहने से नहीं रुकते—अपने आप उस ओर चल पड़ते हैं। प्रेमचंदजी इस तथ्य को इन शब्दों में लिखते हैं—"कच्चा फल पत्थर मारने पर भी नहीं मिलता; किन्तु पककर वह अपने आप धरती की ओर आकर्षित हो जाता है।"

अपने ग्रामीण जीवन के अनुभव द्वारा सदन के अपनाने पर शांता की अवस्था का वर्णन प्रेमचन्दजी ने इस प्रकार किया है—"जैसे जेठ-बैसाख के तपन की मारी हुई गाय सावन में निखर जाती है और खेतों में किल्लोलें करने लगती है, उसी प्रकार विरह की सताई हुई रमणी अब निखर गयी है—प्रेम में मग्न है।" ऐसे स्थल जिनमें प्रेमचन्दजी का गहरा अनुभव छिपा हुआ है 'सेवासदन' में एक नहीं, अनेक हैं। प्रसंगों के वर्णन में भी चाहे आप सदन का चरित्र देखिये और चाहे सुमनबाई का; चाहे दालमंडी का चित्र देखिये और चाहे किसी पार्क की सैर का, चाहे मल्लाहों की स्त्रियों का और चाहे अपने कुटुंबियों का और उनके व्यावहारिक जीवन का—प्रत्येक क्षेत्र में प्रेमचन्दजी का जीवन-अनुभव खरा और सच्चा उतरेगा।

भाव-जगत् में भी हमारे इस कलाकार का गहरा प्रवेश है।

जिस परिस्थिति में, जिस प्रकार के विचार उद्भूत होते हैं और वैसे ही विचार प्रेमचन्दजी ने अपने पात्रों के द्वारा सम-विषम परिस्थितियों में प्रकट कराये हैं। दारोगा कृष्णचंद का जीवन पवित्र था और रिश्वतखोरी से एकदम पृथक् था। परंतु, कन्या के विवाह की भीषण समस्या उन्हें इस दलदल की ओर ले गयी, और वे बेचारे उसमें बुरी तरह फँस गये—यहाँ तक कि उनके जीवन का अन्त भी इसी के कारण हुआ। जीवन में यह परिवर्तन उनके पारिवारिक जीवन के लिये घातक सिद्ध हुआ और सेवा-सदन की समग्र घटनाओं का मूल कारण।

जाह्नवी के रूप में हमें एक ऐसी स्त्री के दर्शन होते हैं जो केवल अपने परिवार को ही सब कुछ समझती है। सुमन और शांता उसे एक आँख अच्छी नहीं लगतीं। भावधारा की गंभीरता नीचे लिखे प्रसंगों में स्पष्ट दिखलायी दे रही है। (१) कृष्णचंदजी का सुमन के संबंध में अपवाद सुनना और अंत में भागीरथी में मग्न हो जाना। (२) सुमन के अंदर घर से निकलने पर, फिर दालमंडी से हटने के पूर्व और फिर सदन के घर में मदन-सिंह, पद्मसिंह आदि पारिवारिक व्यक्तियों के आ जाने पर गंगा की ओर चल देने पर जो भाव प्रकट हुए हैं, वे बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं। (३) पृष्ठ ३४० में प्रेमचन्दजी ने मा का हृदय भामा के इन शब्दों में प्रकट किया है—"मेरे तो वह एक अंधे की लकड़ी है, अच्छा है तो बुरा है तो अपना ही है। संसार की लाज से आँखों से चाहे दूर कर दूँ; पर मन से थोड़े ही दूर कर सकती हूँ।" ३५५ पृष्ठ में पिता के प्रेम को प्रकट करते हुए प्रेमचंदजी मदन-सिंह के शब्दों में लिखते हैं—"मूर्ख, मुझसे रूठने चला है! तब नहीं रूठा था जब पूजा के समय पोथी पर लार टपकाता था। खाने की थाली के पास पेशाब करता था। उसके मारे वजले

कपड़ों को तरस के रह जाता था।" पृष्ठ २८५ में मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ अपने संबंध की अनेक बातें सोचता है; परन्तु उसका संबंध पशुओं के साथ भी उतना ही सहानुभूतिपूर्ण होता है जितना पुरुषों के साथ। कालिदास की शकुन्तला आश्रम से दुष्यन्त के यहाँ जाने पर अपने सींचे हुए पौधों को देखकर प्यार करती है और हिरण के बच्चों को पुचकारती है। इस वन्य एवं पाशविक जगत् के साथ उसके हृदय की अभिन्नता सूचित होती है। प्रेमचंदजी का हृदय भी बड़ा विशाल था। शांता जब पद्मसिंह और विट्ठलदास के साथ अपने सुसराल जाने को उद्यत हुई, तो वह मुन्नी गाय के गले से लिपटकर रोने लगी। वह सोचने लगी कि अब भविष्य में किसके लिये भूसी लेकर दौड़ेगी, किसके गले में काले डोरे में कौड़ियों की माला गूँथकर पहनावेगी? मुन्नी गाय भी सिर झुकाये उसके हाथों को चाटने लगी। कष्टों की अवस्था में दुःख-द्रवित हृदय के विस्तार का कितना सुन्दर चित्र इन पंक्तियों में है।

प्रेमचंदजी ने इस भाव-जगत् में भारतीय पद्धति के अनुसार भाग्यवाद का सम्मिश्रण किया है। सेवासदन में कई स्थानों पर पात्रों के कार्य भाग्य द्वारा ही संचालित हुए हैं। पृष्ठ २६८ में कुँ० अनिरुद्धसिंह अपने जीवन की वर्त्तमान घटनाओं को पूर्व जन्म के कुकर्मों का फल मानते हैं। पृष्ठ २७८ में प्रेमचंदजी पश्चात्ताप को भाग्यवाद के अनुसार आत्म-सुधार के लिए अंतिम चेतावनी मानते हैं, जो ईश्वर की ओर से मिलती है। पृष्ठ ३५८ में सुमनबाई के शब्दों में भी इसी बात का समर्थन करते हैं—

"वह अवस्था भी तो मेरे पूर्व जन्मों के कर्मों का ही फल थी।"

प्रेमचंदजी में वर्णन करने की अनुपम शक्ति है। जब वे किसी दृश्य अथवा व्यापार का वर्णन करते हैं तो उसका चित्र-सा

अंकित कर देते हैं। इस वर्णन में वे प्राय: कुछ स्वयंसिद्ध उक्तियों का प्रयोग करते हैं और व्यापारों के संबंध में मनोवैज्ञानिक रूप से भावों का उत्थान और पतन (अंतर्द्वंद्व) बड़ी अच्छी तरह चित्रित करते हैं। साधारणतया प्रेमचंद की रचनाओं में घटना का प्रधान वर्णन मिलता है; परन्तु कतिपय स्थानों पर यह वर्णन चमत्कारयुक्त भी हो जाता है। इनकी रचनाओं में उपमाएँ भरी पड़ी हुई हैं। ये उपमाएँ हमारे दैनिक व्यवहार में आनेवाली वस्तुओं से संबंध रखती हैं—ऊहा (कल्पना) के बल पर मस्तिष्क खरोच-खरोचकर नहीं निकाली गयीं। जैसे—"आत्मवेदना ने सुमन के हृदय पर वही काम किया जो साबुन मैल के साथ करता है, अथवा जिस प्रकार कोई रोगी क्लोरोफार्म लेने के पश्चात् होश में आकर अपने चीरे हुए फोड़े के गहरे घाव को देखता है और पीड़ा तथा भय से फिर मूर्च्छित हो जाता है—वही दशा इस समय सुमन की थी।"

प्रेमचंदजी की शैली में सर्वत्र सरलता का साम्राज्य है। मनुष्य की कठिन से कठिन आंतरिक परिस्थिति को चित्रित करने में भी प्रेमचंदजी सरलता को नहीं छोड़ते। सदन ने घाट के निकट जब सुमन को देखा, उस समय सुमन की परिस्थिति का वे इन शब्दों में चित्रण करते हैं —

"यह सुमन थी; किन्तु कितनी बदली हुई—न वह लंबे केश थे, न वह कोमल गात, न वह हँसते हुए गुलाब-से होंठ, न वह चंचल ज्योति से चमकती आँखें; न वह बनाव-शृंगार, न वह रत्न-जटित आभूषणों की छटा—वह केवल सफेद साड़ी पहिने थी, उसकी चाल में गंभीरता थी और मुख से नैराश्य और वैराग्य का भाव झलकता था।" फिर संक्षेप में उसकी अवस्था का वर्णन वे इन शब्दों में करते हैं—"काव्य वही था; पर अलंकारविहीन

और इसीलिये सरल एवं मार्मिक।" यदि हम इस उक्ति को प्रेमचंदजी की शैली पर घटित करें तो कदाचित् अनुपयुक्त न होगा।

सेवासदन में कहीं-कहीं शैली की सूक्ष्मता भी प्रदर्शित होती है। यह सूक्ष्मता ध्वनि और व्यंग्य, इन दो शक्तियों के द्वारा प्रकट की जाती है। जब उमानाथ शांता के लिये वर ढूँढ़ने को निकले और संध्या के समय नाव के द्वारा नदी को पार करने की बात सोचने लगे, तो शीघ्र ही वे मल्लाहों को आवाज देने लगे। नावें दूसरी ओर थीं, इसलिए उनके शब्द मल्लाहों के कानों तक न पहुँचते थे। इस घटना को प्रेमचंदजी ध्वनि के आधार पर इस प्रकार लिखते हैं—"उनकी करुण ध्वनि को मल्लाहों के कानों में पहुँचने की आकांक्षा नहीं थी। वह लहरों से खेलती हुई उन्हीं में समा गयी!"

प्रेमचंदजी ने पृष्ठ २४३ में करुण रस का अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन किया है। कृष्णचंद और शांता में उस समय जो वार्त्तालाप हुआ है, वह बड़ा ही मर्मस्पर्शी है। पृष्ठ २०० में हास्य का बड़ा सुंदर छींटा है—जब जनता ने सदन की बारात और शामियाने पर पत्थर फेंकने शुरू किये और मुंशी बैजनाथ उठकर छोलदारी में भागे। इसी प्रकार का हास्य सुमन के दालमंडी छोड़ने के समय का है जब चिम्मनलाल कुर्सी से गिरे, अबुलवफा की दाढ़ी जल गयी और दीनानाथ के ऊपर वार्निश गिरी—यद्यपि यह हास्य सुमन की उस समय की हार्दिक अवस्था के अनुकूल नहीं है। मनुष्य की आंतरिक मनोवृत्तियों के चित्रण में प्रेमचंदजी भलीभाँति सफल हुए हैं। परिस्थिति-विशेष के अनुकूल जो भावनाएँ किसी मनुष्य के मन में उत्पन्न होती हैं, उनका यथातथ्य चित्रण इनकी रचनाओं में मिलता है। सुमन, कृष्णचंद, मदनसिंह आदि कई पात्रों के चरित्र में उत्थान और पतन की अनेक मनोवृत्तियों

का समावेश हुआ है। पृष्ठ ३३४ में लेखक अपने पात्रों की जीवन-क्रियाओं के साथ इतना तल्लीन हुआ है कि वह स्वयं उपन्यास के कथानक में भाग लेने लगा है। सुभद्रा और सदन में वार्त्तालाप हो रहा था। उस वार्त्तालाप में प्रेमचंदजी अपनी तटस्थता छोड़कर सुभद्रा की बातों की समालोचना करने लगते हैं, मानों वे स्वयं उपन्यास के अंदर एक पात्र हों। वे लिखते हैं—"सुभद्रा, यदि यही बातें तुमने पवित्र भाव से कही होती, तो हम तुम्हारा कितना आदर करते।" कहा नहीं जा सकता कि प्रेमचंदजी का कथा में भाग लेना कहाँ तक उचित होगा। उपन्यासकार को यह अधिकार है कि वह छूटी बातों को प्रसंग से संबंधित करने के लिए अपनी ओर से कह दे; परंतु वह कथानक के अंदर स्वय एक पात्र बन जाय, ऐसा कदाचित् उचित नहीं होगा। हम इसका समाधान यही कर सकते हैं कि लेखक अपने पात्रों के वार्त्तालाप में इतना तल्लीन हो गया है कि उसे लेखक के रूप में अपनी स्थिति का स्मरण ही नहीं रहा। लेखक की आत्म-तल्लीनता ही इसका एकमात्र कारण है। 'सेवासदन' में लोकोक्तियाँ तथा अनुभूत बातों को लेकर विषय को हृदयंगम कराने की भी सुंदर चेष्टा की गयी है।

—प्रो० मुंशीराम शर्मा

२

आधुनिक हिंदी-साहित्य में जितने उपन्यास और धार्मिक विवादपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, उतने और किसी विषय में नहीं हुए। साहित्य-वाटिका में घूमिये। बहुत कुछ जमीन उपन्यास ही घेरे हुए है। हिंदी-रसिक दर्शकों तथा साहित्य-सेवक मालियों का ध्यान भी इसी ओर है। संसार भर के भले-बुरे पौधे यहाँ मौजूद हैं। इधर देखिये तो बंगाली बंकिम और रवींद्र के

साहित्य-सुमनों की कलमें हैं; उधर गुजरात से लायी हुई सरस्वती-चंद्र की बेल है। कहीं ह्यूगो और ड्यूमा के ऐतिहासिक उपन्यासों की कलमें लगाने की कोशिश हो रही है। कहीं कुछ सज्जन अंग्रेजी-साहित्य के कूड़े-कचरे से वाटिका को सुशोभित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। एक-आध कोने में छिपे हुए, इने-गिने साहित्य-प्रेमी अपनी सच्ची साहित्य-सेवा का बीज बोते दिखाई देते हैं।

हिंदी में अनुवादित उपन्यास बहुत हैं—अच्छे और बुरे दोनों। परंतु, मौलिक उपन्यास बहुत कम हैं। कथा-कहानियों की भी कमी नहीं है; क्योंकि उनका जन्म बहुत पहले हो चुका था। परंतु, उपन्यास ने हिंदी-साहित्य में अंग्रेजी राज्य, अंग्रेजी शिक्षा और आधुनिक रुचि के साथ ही अवतार लिया है। परलोकवासी बाबू देवकीनंदन खत्री ने बहुत पहले ही इस अवतार की खूब आराधना की। उनके उपन्यासों ने अपने समय में साहित्य को बहुत कुछ लाभ पहुँचाया। समाज के चरित्र को बिना बहुत बिगाड़े उन्होंने हिंदी की ओर बहुत-से उपन्यास-रसिकों को आकृष्ट किया। जिनको तिलिस्मी कहानियों से शौक था, वे अब चंद्रकांता-संतति पढ़ने लगे। लेखक को भी आर्थिक लाभ हुआ। बस, फिर क्या था। ऐयारी से पूर्ण उपन्यासों की धूम मच गयी। काशी का उपन्यास-वृक्ष इंद्रायणी फलों से लद गया। कुछ महाशयों ने—नाम लेने की आवश्यकता नहीं—प्रेम का पुट देकर अपने उपन्यासों को और भी जहरीला, किंतु मनोहर बना दिया। इन विष-भरे कनक-घटों से 'अमृत' पीकर देश के 'रसिक' नवयुवक अपने चरित्र-पट पर नया रंग रँगने लगे। इस ओर समाज का ध्यान भी न गया। न लेखक ने सोचा और न पाठकों ने ही, कि जब हमारी संतान यह देखेगी कि हमको इन्हीं गंदे

प्रेमचंद

उपन्यासों से शौक था, तब वह हमारे चरित्र के संबंध में क्या कहेगी।

परंतु आशा की झलक दिखायी दे रही है। अच्छे उपन्यासों का आदर बढ़ता जाता है—चाहे वे अनुवादित ही क्यों न हों। ऐसे समय में साहित्य-सेवियों का यह धर्म है कि अच्छे उपन्यासों की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करें और उनके लेखकों का उत्साह बढ़ाते रहें। इसी धर्म को यथाबुधि निबाहने के लिये आज हम पाठकों से 'सेवासदन' का परिचय कराते हैं। श्रीयुत प्रेमचंद की आख्यायिकाओं से तो वे परिचित ही होंगे। यह उन्हीं की लेखनी से निकला हुआ पहला उपन्यास है।

यह उपन्यास ऐतिहासिक नहीं। इसकी तुलना न तो बंकिम कृत 'दुर्गेशनंदिनी' से हो सकती है और न स्कॉट कृत आइवनहो (Ivanhoe) से। यदि तुलना हो सकती है, तो रवींद्रनाथ या थैकरे कृत सामाजिक उपन्यासों से। परन्तु इसमें भी कठिनाइ है। सामाजिक उपन्यास के पात्र एक खास देश-काल से संबंध रखते हैं। उनका प्रभाव भी तभी तक रहता है, जब तक कि समाज अपनी रंगत न बदले। उसी देश में उनका आदर होता है, जहाँ उन्होंने जन्म लिया है। इसीलिये सामाजिक उपन्यासों का अनुवाद करना कठिन है और बेकार भी; अतएव एक दूसरे से इनकी तुलना करना कठिन है और अनुचित भी। इनके गुण-दोष समाज-चित्रण ही पर आश्रित रहते हैं।

शैतान के दर्शन कराना बहुत अच्छा नहीं और न उच्चकोटि के साहित्य में उसका चित्र खींचना सरल ही है। चित्र खींचने के दो ढंग हो सकते हैं। एक कुछ सरल है और चित्रकार के लिए अच्छी रकम पैदा करने का द्वार भी है। दूसरा कठिन है, परंतु यदि चित्रकार चतुर न हो तो मेहनत घाटे में रहेगी—गाँठ

से भी कुछ खो बैठेगा। एक चित्र इतना लुभावना बनाया जा सकता है कि आप उसी से प्रेम करने लगें। दूसरा इस प्रकार दिखाया जा सकता है कि दिव्य होने पर भी उसकी ओर से आपके हृदय में भय तथा घृणा के भाव पैदा हों। इसी से इन दोनों के लिये साहित्य में भेद माना गया है। एक दूकानदारी है, दूसरा साहित्य का रत्न।

उदाहरण के लिए डिकेंस और रेनॉल्ड्स की ओर देखिए। इंगलिस्तान के निर्धन मजदूरों पर दोनों की कृपा है। उनके अपार कष्टों का चित्र दोनों ने खींचा है। उनकी दरिद्रता से उत्पन्न पापों का करुणासूचक दृश्य दिखाने का प्रयत्न दोनों ने किया है। दोनों के हृदय में देश के अमीरों के चरित्रों की ओर से घृणा है। परंतु, दोनों का क्रिया-कलाप अलग-अलग है। डिकेंस के विषय में कहा जाता है कि यदि किसी उपन्यास-लेखक ने इंगलिस्तान के मजदूर-दल के उद्धार करने में सहायता दी है तो डिकेंस ने। इसी से उसके उपन्यासों की गिनती देश के साहित्य-रत्नों में है। रेनॉल्ड्स ने अपने देश को कहाँ तक लाभ पहुँचाया, इसका उल्लेख न करना ही भला है। ईश्वर करे, हमारा साहित्य रेनॉल्ड्स की कृपा-छाया से वंचित रहे।

सौभाग्य की बात है जो 'सेवासदन' रेनॉल्ड्स के उपन्यासों की श्रेणी का नहीं होने पाया। उसमें समाज के उस शैतान का चित्र खींचा गया है जो हमारे शहरों के खास-खास बाजारों के छज्जों को सुशोभित किये हुए है। लेखक ने इस कठिन कार्य को बड़ी चतुराई के साथ पूरा किया है। जहाँ-तहाँ भाषा तथा भाव में दोष दिखाये जा सकते हैं। कहानी भी एक-आध जगह जरा असंबद्ध-सी जँचेगी। लेखक के चरित्र-चित्रण से भी, कहीं पर, पाठक सहमत न होंगे। परंतु, यह कहीं नहीं होने पाया है कि

दालमंडी की गंदी वायु में घूमते हुए भी आपके विचार कलुषित हो जायँ। पाठक के भाव या तो पद्मसिंह से मिलेंगे या विट्ठलदास से। सदन या भोली से सहानुभूति रखकर उनके मन में लालसा के भाव न उत्पन्न होंगे।

वारवनिताओं का आदर होने से गृहस्थाश्रम का अधःपतन होता है। 'सेवासदन' में कही गयी कहानी के द्वारा उसके उद्धार-की रीति बतायी गयी है। इस उपन्यास का प्रधान उद्देश यही है। परंतु, इसके प्रत्येक पात्र के चरित्र से एक न एक शिक्षा मिलती है। कृष्णचंद्र सच्चे हैं; परंतु उन्हें अपने सत्य को देश की दहेज-प्रथा-रूपिणी भीषण दुर्देवी के चरणों में बलिदान करना पड़ता है। अपनी दुलारी और शिक्षिता लड़की के विवाह के लिये दहेज की रकम जुटाने को वह रिश्वत लेते हैं, पकड़े जाते हैं, कैद भुगतते हैं। घर मटियामेट हो जाता है। एक लड़की निर्धन वर के गले मढ़ी जाती है; दूसरी दासी होकर अपना समय काटती है; स्त्री मानसिक क्लेश का शिकार बनकर बहुत शीघ्र संसार से कूच कर जाती है। इस अग्नि-परीक्षा में हरिश्चंद्र ही का सत्य टिक सकता था। जेल से लौटने पर कृष्णचंद्र के चरित्र का अच्छी तरह पतन हो गया है। लेखक महोदय बहुत देर तक उनको हमारे सामने नहीं रहने देते। विपत्ति-सागर में दो-चार और गोते लगाकर वह हमारी दृष्टि से लुप्त हो जाते हैं।

कृष्णचंद्र का-सा शोकमय अंत और किसी का नहीं। बाकी चरित्रों के पाठ में कहीं आनंद है, कहीं शोक और कहीं विप्लव; परंतु अंत शांतिपूर्ण है। इन चरित्रों में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य चरित्र सुमन का है।

अत्युक्ति न समझिए, सुमन ही के चरित्र-चित्रण में उपन्यास

का गौरव है। उसी में उपन्यास के प्राण हैं। सुमन के चरित्र में यदि कहीं भी बट्टा लग जाता, तो उपन्यास किसी काम का न रहता। लेखक महाशय उसे पढ़ा-लिखाकर, और शारीरिक सुख का शौकीन बनाकर, पंद्रह रुपये महीने पर नौकर एक अधेड़ ब्राह्मण के साथ ब्याह देते हैं। चरित्र-चित्रण में सुमन को एक इसी बात ने बचा लिया है कि वह भारतीय नारी है। वह पतिव्रता है सही; परंतु आत्म-गौरव और शारीरिक सुख की लालसा उसको वह व्रत निबाहने नहीं देती। इधर वह देखती है कि समाज में पातिव्रत्य की कोई कदर नहीं। घर के सामने ही वह देखती है कि पतिता भोली का आदर-सम्मान बड़े-बड़े धर्मज्ञ करते हैं; पर उसके लिए इतना भी नहीं कि वह अपनी मर्यादा को एक नीच सिपाही के हाथ से भी बचा सके! पति महाशय (गजाधरजी) क्या करें? पत्नी के वस्त्राभूषण और मान-प्राप्ति की लालसा को वह कुछ और ही समझे। एक दिन आग लग ही तो गयी। सुमन गृहिणी के उच्च पद से गिर गयी।

परंतु अभी कुछ और पतन होना बाकी है। दूसरे दृश्य में उसे हम दालमंडी के एक कमरे में देखते हैं। यदि लेखक महाशय जरा भी चूक जाते तो सुमन के पतन की पराकाष्ठा हो जाती। सदनसिंह के प्रेम-पाश में सुमन फँस जाती है; परंतु पतित नहीं होने पाती। इसके पहले ही समाज-सुधारक विट्ठलदास उसके उद्धार के लिए पहुँच जाते हैं; पर उसका उद्धार नहीं होता। विधवा-आश्रम में उसका बहुत शीघ्र लाया जाना, समाज की कृपा से उसके उद्धार-विरुद्ध कठिनाइयों का पड़ना, शांता की विपत्ति, उसके भावी श्वसुर मदनसिंह का विरोध—इनमें से किसी एक का भी काम कर जाना सुमन को गिरा देने के लि[illegible] काफी था। परंतु, लेखक उसको हर तरफ से बचाकर अंत प[illegible]

सेवासदन की संचालिका का पद तक दे देते हैं। सुमन ने अपने ही को नहीं, उपन्यास को भी गिर जाने से बचा लिया।

स्त्री-पात्रों में यदि प्रधान चरित्र सुमन का है, तो पुरुष-पात्रों में पद्मसिंह का मानने योग्य है। कथा-प्रसंग में वह कुछ देर बाद दिखाई देते हैं; परंतु फिर वह दृष्टि के सामने से नहीं हटते। पद्मसिंह एक साधारण समाज-सुधारक हैं। विचारों के बहुत ऊँचे हैं, हृदय के बहुत कोमल हैं; परंतु हैं बड़े दब्बू। ऐसे पुरुष लेख चाहे जितने लिख मारें, वक्तृताएँ चाहे जितनी झाड़ आयें; परंतु मौका पड़ने पर रहेंगे सबके पीछे। नाच के बड़े विरोधी; परंतु मित्रों ने दबाया तो जलसा करा बैठे। इसका उन्हें बहुत कुछ प्रायश्चित्त भी करना पड़ा—न यह नाच होता और न सुमन घर से निकाली जाती। वह विट्ठलदास की शरण लेते हैं; परंतु उनसे पद्मसिंह की नहीं बनती। जैसे वह कर्म में कच्चे हैं, वैसे ही विट्ठलदास विचार में कच्चे हैं। चंदा वसूल करने में कठिनाई; वारांगनाओं को शहर के बाहर जगह देने के प्रस्ताव का म्युनिसिपैलिटी के मेंबरों-द्वारा विरोध; इधर घर में सदनसिंह की ज्यादती, उधर सुमन की छोटी बहन शांता के साथ सदनसिंह के विवाह में विघ्न पड़ने की चोट—पद्मसिंह बिलकुल ढीले पड़ गये। परंतु, विचारशक्ति में कमी नहीं पड़ी। उन्हीं के द्वारा लेखक महाशय ने अपना विचार प्रकट किया है कि वारनारियों को निकाल देने ही से सुधार न हो जायगा। क्यों न उनको और उनकी संतान को अच्छे मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया जाय? इस विचार को विट्ठलदास सेवासदन के रूप में परिणत करते हैं। परंतु, पद्मसिंह के हृदय में अंत तक भय की सत्ता बनी रहती है। झेंप के मारे वह सेवासदन में नहीं जाते; कहीं ऐसा न हो जो सुमन से चार आँखें हो जायँ।

ऐसे और भी अनेक पात्र हैं; परंतु लेख बढ़ जाने के भय से हम उनका वर्णन न करेंगे। सरला शांता को अनेक कष्ट सहन करके भी, अंत में सौभाग्यवती गृहिणी का सुख भोगना बदा था। चंचला, परंतु पतिव्रता सुभद्रा, अनेक आपदाएँ झेलकर भी, पति के सामने हँसती ही रहती है। गृहस्थ गजाधर के संन्यासाश्रमी अवतार गजानंद, अंत में बहन के घर से निकाली हुई किसी समय की अपनी पत्नी को शोक-सागर से उबारकर शांति-प्रदान करते हैं। पुराने विचार के देहाती रईस मदनसिंह नाच कराने में अपनी मर्यादा समझते हैं। दुलार से बिगड़े हुए नवयुवक सदनसिंह का पतन, और अपनी ही मेहनत द्वारा उद्धार; म्युनिसिपैलिटी के मेंबरों में से कोई गान-विद्या और हिंदी के शौकीन हैं; किसी को अंग्रेजी बोले बिना चैन नहीं; किसी के दुर्व्यसन वैसे ही हैं जैसे उसके दुर्विचार—इन सबके लिए इस उपन्यास में जगह है; सबके चित्र देखने को मिलते हैं; सबसे किसी न किसी प्रकार की शिक्षा ग्रहण करने का अवसर प्राप्त होता है।

उपन्यास के पात्रों से दृष्टि हटाकर यदि वह उसके उद्देश की ओर प्रेरित की जाय, तो एक बहुत बड़ा सामाजिक प्रश्न सामने आ जाता है। क्या वह 'सेवासदन', जिसकी झलक हम उपन्यास-स्वप्न में देखते हैं, कभी प्रत्यक्ष भी देखना नसीब होगा? प्रश्न कठिन है। शहरों की आबादी दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। इस काम को म्युनिसिपैलिटियों के भरोसे छोड़ देने से सफलता होने की नहीं। देखें, हमारी व्यवस्थापक-सभाएँ इस प्रश्न को क्योंकर हल करती हैं। लेखक के विचार यदि उपन्यास के बहाने पाठक-जनता पर कुछ भी असर करें, तो समाज एक बड़े बुरे रोग से मुक्त हो जाय।

उपन्यास में दोष दिखाने के लिये बहुत कम जगह है। पुस्तक में यत्र-तत्र गल्तियाँ रह गयी हैं। मुसलमानों की उर्दू बहुत क्लिष्ट है। यदि सरल हो सकती तो बहुत अच्छा था; टिप्पणी में कठिन शब्दों के अर्थ ही लिख दिये जाते, तो पाठकों को बहुत सुभीता हो जाता।

हम आशा करते हैं कि लेखक महाशय की लेखनी से और भी अच्छे-अच्छे उपन्यासों की सृष्टि होगी। ईश्वर करे, वह समय शीघ्र आवे जब हमें यह कहने का सौभाग्य प्राप्त हो कि हिन्दी-साहित्य में भी थैकरे, डिकेंस, स्कॉट और रवींद्र की कमी नहीं है।

—कालिदास कपूर

सेवासदन से प्रेमाश्रम तक

'सेवासदन' प्रेमचंद का पहला हिंदी-उपन्यास है। और, जिस युग-परिवर्तन का उल्लेख लेखक ने किया है, उसका आरंभ इससे हो गया। लेखक के चरित्रों में मनोवैज्ञानिक आधार आ गया। वे जीवन को उसके उतार-चढ़ावों के साथ मानते चले हैं, और भिन्न-भिन्न स्थितियों में विभिन्न आचरण होते हुए भी वे अपने एकसूत्र-जैसे व्यक्तित्व के कारण पहचाने जा सकते हैं। कृष्णचंद्र आरंभ में एक पवित्रात्मा हैं, वही परिस्थितियों से विवश होकर रिश्वत लेकर पतित होते हैं, वही जेल से लौटकर अपने क्षोभ का जीवन प्रलाप और प्रमाद से व्यतीत करते मिलते हैं—उन्हीं को हम गंगा में विसर्जित होते देखते हैं। इन सब विविधताओं में भी कृष्णचंद्र का वह व्यक्तित्व निरंतर बना रहता है। उस काल के उपन्यास-जगत् में यह क्रांति का कारण था। 'सेवासदन' में लेखक का एक स्पष्ट उद्देश्य था। जो जागृति पैदा हो गयी थी, वह जागृति-धारा रूढ़ियों में बड़ी अड़चन अनुभव कर रही थी। प्रेमचंद इस जागृति के दूत बने, उस धारा के प्रवाह को सहायता पहुँचाने के लिये इन्हें अपनी लेखनी को सँभालना पड़ा। 'सेवासदन' की कहानी बनायी। कृष्णचंद्र रिश्वत लेना पाप समझते हैं; पर लड़की के विवाह के लिये यह पाप

करना पड़ा। बस, यही पाप उपन्यास का बीज है। इसी पाप ने विष का वह वृक्ष खड़ा किया कि फल हुआ अमृत-सा सेवासदन। इस उपन्यास को लिखते-लिखते ही लेखक ने जाना होगा कि विष का फल अमृत भी होता है। उस पाप का, जो नैतिक के साथ कानूनी भी था, कृष्णचंद्र को दंड भोगना पड़ा; वे जेल गये—उनकी लड़की सुमन का विवाह एक दरिद्र के साथ हुआ। सुमन के विलास में पले सौंदर्य और गजानंद की असमर्थ दरिद्रता में पटी नहीं; परस्पर संदेह उत्पन्न हो गया। सुमन को घर छोड़कर वेश्या बनना पड़ा। इस कलंक से उसकी छोटी बहिन का विवाह रुक गया। यहाँ से कहानी में प्रतिक्रिया आरंभ हुई। छोटी बहिन सुमन से बिलकुल भिन्न स्वभाव की निकली। उसने सदन को अपना पति मान लिया। सुमन का पति साधू हो गया—उसका प्रायश्चित्त आरंभ हो गया। सुमन भी पवित्र जीवन बिताने लगी। शांता ने सदन को जीत लिया। वह अपने पिता की अवहेलना करता हुआ ही शांता को अपना सका। सुमन ने स्वामी गजानंद के साथ वेश्याओं के उद्धार और सुधार के लिये सेवासदन नाम की संस्था स्थापित कर दी। सेवासदन पाप का परिणाम है। एक पाप ने दूसरे को, दूसरे ने तीसरे को जन्म दिया—और उसके प्रायश्चित्त में विदग्ध होते-होते जब मूल पाप-कर्त्ता ने जल-समाधि ले ली, तभी प्रतिक्रिया आरंभ हुई। जहाँ टेकनीक की दृष्टि से लेखक ने उपन्यास को मनोवैज्ञानिक आधार देने का साहस किया, वहीं उसने एक कठिन समस्या पर भी हाथ लगाया। समस्या थी 'वेश्या'-संबंधी। विक्टर ह्यूगो के 'ला मिजराब' को पढ़कर 'चोर' के प्रति जैसे सहानुभूति उत्पन्न होती है, और यह समझ में आता है कि 'चोरी' जैसी चीज स्वयं 'पाप' नहीं, अपराध नहीं, वह समाज और

अर्थ-विधान के दूषित प्रभावों का ही विकृत परिणाम है, वैसे ही 'सुमन' के चरित्र में जो चीज हम पाते हैं, वह हमें वेश्याओं पर विचार करने को बाध्य कर देती है। क्या वे घृणा की पात्र हैं ? वे आखिर हैं ही क्यों ? हम जानते हैं कि लेखक वेश्याओं के दूषित प्रभाव को मानता है। 'सुमन' का पतन वेश्या के नृत्य और उसके सम्मानित समाज में आदर के कारण हुआ, पर वह उन वेश्याओं के प्रति सहानुभूति ही उत्पन्न कराता है। समाज-व्यवस्था में एक मौलिक परिवर्तन करने की बात थी। इन वेश्याओं के लिये नगर से बाहर स्थान बनाने की योजना भी अभूतपूर्व रही। लेखक ने अपने उपन्यास के लिये जिस समस्या को पकड़ा, वह महत्त्वपूर्ण इसलिये है कि यदि मानवीय दुर्बलताओं के नग्न-नरक में किसी प्रकार क्रांति की चिनगारी पहुँच सके, तो फिर आगे गति सहज हो सकती है।

वेश्याओं के प्रति सहानुभूति पाठकों को सहज ही बहुत ऊँचाई पर पहुँचा देती है। इस एक सद्भाव से ही उसके रूढ़ि-ग्रस्त विचार उन्मुक्त वातावरण में साँस लेने लगते हैं। पापियों के प्रति वह उतना निष्ठुर नहीं हो सकता, और पापी को बहिष्कार करके उनका पृथक् समुदाय नहीं बनने देगा। वह पाप को नहीं, पापी को देखेगा—और पापी को प्रायश्चित्त में पाकर वह उसे क्षमा भी कर सकेगा। पर यह प्रायश्चित्त क्या है ? शुद्धि की अनवरत चेष्टा—सेवा करते हुए। सेवा ही वह मार्ग है। 'विट्ठलदास' उस सेवा के व्रती हैं, गजानंद भी व्रती हैं। गजानंद स्वामी हैं, उनके पास अंतर्दृष्टि नहीं तो आत्मबल आ गया है। उसीके आधार पर वे 'सुमन' से कहते हैं—

"सतयुग में मनुष्य की मुक्ति ज्ञान से होती थी, द्वापर में भक्ति से, त्रेता में सत्य से ; पर इस कलयुग में इसका केवल एक

ही मार्ग है और वह सेवा है। इसी मार्ग पर चलो और तुम्हारा उद्धार होगा। जो लोग तुमसे भी दीन, दुखी, दलित हैं, उनकी शरण में जाओ, और उनका आशीर्वाद तुम्हारा उद्धार करेगा। कलियुग में परमात्मा इसी दुःख-सागर में वास करते हैं।"

वेश्यात्व से लांछित सुमन को, इन सब प्रायश्चित्तों के बाद भी, लेखक पीछे नहीं लौटा सका है। इसीलिये संस्था की अपेक्षा प्रतीत हुई। व्यक्ति ने संस्था का सहारा पकड़कर यह जैसा समाज है, उससे एस्केप प्राप्त किया है। इस दृष्टि से संस्था रक्षा भी करती है और व्यक्ति के विकास और परिष्कार में भी सहायक होती है।

'सेवासदन' में लेखक ने घर के अंदर कम प्रवेश किया है। उसके समक्ष जो समस्या खड़ी थी, वह सामाजिक थी; अतः घर का भी वही पहलू आया है। सुमन का अपना घर, पद्मसिंह का घर, मदनसिंह का घर, उमानाथ का घर, इन सबके दृश्य घर की समस्या सुलझानेवाले नहीं। सुमन और पद्मसिंह का घर सुमन-मानस को तरंगित करने और उसकी परिस्थितियों का प्रभावाङ्कन करने के लिए ही है। उमानाथ का घर घटना-सूत्रों को जोड़ने के लिये है। हाँ, मदनसिंह के घर में कुछ है। मदनसिंह और पद्मसिंह का भ्रातृत्व, मदनसिंह का सदन के प्रति वात्सल्य, ये चीजें हैं। यह वात्सल्य ही मदन की परिणति कर देता है। जो सदन से मान करता है, वही पौत्र के जन्म के समाचार से विकल होकर मान-मर्यादा की भी चिंता न कर उसका होने को दौड़ता है। व्यक्ति के 'संबंध' ने निर्जीव मर्यादा और रूढ़ियों पर विजय पायी। पिता को स्पष्ट विदित हुआ कि वह हार गया और, उसे हार स्वीकार करनी पड़ी।

'सेवासदन' के सभी पात्रों में प्रायश्चित्त की प्रवृत्ति है—संघर्ष

की नहीं। सुमन में कुछ कमजोर संघर्ष है—वह है संयम और 'लिप्सा' का संघर्ष। लिप्सा वह नहीं, जो महत्वाकांक्षा कही जा सके, वह लिप्सा जो अपनी सीमाओं के दु:ख से मुक्ति चाहती है। यदि सुमन सुख और प्रतिष्ठा चाहती है, तो उसमें पाप नहीं कमाती ; पर उसे पाने के जिस मार्ग का वह अवलंबन करती है, या जो उसे अवलंबन करना पड़ता है बस, वही और वहीं पाप है। इसी लिप्सा का संयम के सुख से संघर्ष है। उपन्यास का क्षेत्र संकुचित है—नगर से बाहर नहीं जाया गया। मध्यवर्ग ही आया है।

नागरिक समस्याओं में चुंगी और वेश्या हैं, सामाजिक में विवाह, हिंदू और मुसलमानों के वर्ग तो हैं और वे अलग-अलग विचार करते भी दीखते हैं; पर केवल चुंगी में राय देने के संबंध में ही। साधारणतः इनमें सद्भाव हैं।

'सेवासदन' से 'प्रेमाश्रम' में आते-आते प्रेमचंद में परिवर्तन उपस्थित हो गया है। 'सेवासदन' में लेखक नगर तक ही रहा, गाँव की ओर उसने बहुत साधारण दृष्टि-निक्षेप किया। 'प्रेमाश्रम' में गाँव प्रमुखता पाने लगा है। 'सेवासदन' के पात्र सीधे और भोले—भूल अथवा पाप करके पछतानेवाले, एक शब्द में सहज चरित्र के हैं। 'प्रेमाश्रम' में पात्रों के एक वर्ग में जहाँ सहजता है, वहाँ दूसरे में कुटिलता भी है। वह कुटिलता सहज प्रेरणा और शिक्षा का परिणाम है। 'सेवासदन'वाली 'लिप्सा' या 'चाह' यहाँ भी है ; पर वह केवल सीमाओं के असंतोष की अभिव्यक्ति नहीं, दरिद्रता की चीत्कार नहीं—वह है लग्ज़री, विलास-वैभव की लिप्सा। और, यह लिप्सा सुमन में उत्पन्न होकर जहाँ संयम-सुख से अंतर्संघर्ष कर सकी थी, वहाँ 'प्रेमाश्रम' में उसने ज्ञानशंकर में अपनी मूर्त्ति ही बना ली। ज्ञानशंकर के पास यह अंतर्संघर्ष नहीं, अपनी

लिप्सा का पोषण करने के लिये वर्त्तमान शिक्षा से मिले हुए तर्क और उनसे बने हुए विश्वास और धारणाएँ उनके पास हैं। इनका संघर्ष प्रेमशंकर से है। प्रेमशंकर जैसे संयम-सुख के प्रतीक बन गये हैं। सजीव हैं, मानवीय उतार-चढ़ाव से अलग भी नहीं; पर जैसे सुमन में आत्म-संयम का जो बीज था, और जिसे लिप्सा ने झुलसा दिया है, वही अपने अलग अस्तित्व के लिए, अपना स्थान बनाने के लिए, अपनी शक्ति सिद्ध करने के लिए प्रेमशंकर में अंकुरित हुआ है। 'सेवासदन' में सुमन विट्ठलदास का सहारा लेकर ही उस लिप्सा पर विजय प्राप्त कर सकी थी। विट्ठलदास सयम और सेवा के पुजारी थे; गति और कर्म में उनका विश्वास था। यह बात प्रेमशंकर में मिलती है। सुमन के अंतर्द्वंद्व में झुलसा बीज विट्ठल से पुरुषत्व पाकर प्रेमशंकर बना। 'प्रेमाश्रम' में भूल और पाप का उतना स्थान नहीं। भूलें हैं, पाप भी है, उनका प्रायश्चित्त भी है। गायत्री की भूल प्रायश्चित्त में परिणति पाती ही है—पर यह प्रवृत्ति 'प्रेमाश्रम' में अत्यंत मंद हो गयी है। मंद हो गयी है का अर्थ यह कदापि नहीं कि प्रभाव-शून्य हो गयी है, उसका अर्थ केवल यह है कि जहाँ 'सेवासदन' में यही तार बजता हुआ अन्य सहवर्गी तारों को झनझना रहा था, वहाँ 'प्रेमाश्रम' में यह तार है, पर छुआ कम गया है। बिना छुए भी यह अपना स्वर दूसरे तारों के स्वरों में मिला रहा है। ज्वालासिंह, डा० प्रियनाथ, इर्फानअली, दयाशंकर—सभी जैसे अंतर में अपने कुछ किये गये कर्मों पर पश्चात्ताप करते हैं; और नहीं, वे अपना स्वरूप बदलते हैं। चोला भी बदलने को तत्पर हो जाते हैं। यह चोला बदलने की बात ज्ञानशंकर में भी कुछ-कुछ परिलक्षित होती है, तब जब कि वे अपने निश्चित स्वप्नों को पूरा हुआ पाते हैं; पर वहाँ वह परिवर्तन चोला बदलना नहीं

—ट्रान्सफार्मेशन (Transformation) नहीं, केवल रंग बदलना है। उस नदी की धारा की भाँति है जो पहाड़ों में टकराकर, उनसे संघर्ष कर, एक उद्दाम, उद्दण्ड कोलाहल कर उन्हें चीरते हुए मैदानों में—हरियाले मैदानों में अपना मार्ग पाकर मंथर होते-होते उस उद्दंडता, कोलाहल, संघर्ष को बिसार देती है और अपने कलुष—मटमैलेपन को अपने तल और कूल में जमा करती हुई उज्ज्वल लगने लगती है। वहाँ न प्रायश्चित्त है, न पश्चात्ताप। हाँ, मानव-स्वभाव की आदि पवित्रता और अंतर उज्ज्वलता (Intrinsic brilliance) का प्रमाण भर है। जैसे ज्ञानशंकर ने जो शिक्षा पायी, वह अपना अभीष्ट पाकर निरस्त हो बैठी। इस शिक्षा ने ज्ञानशंकर को सबल बनाकर उससे कितने स्वाँग भराये हैं जो ज्ञानशंकर को अपने मानव से भी अधिक महत्त्वपूर्ण लगने लगे हैं। वह स्वाँग में भूला रहना चाहता है; पर गायत्री का प्रायश्चित्त उस स्वाँग का अंत कर देता है। तभी 'प्रेमाश्रम' इस आधुनिक शिक्षा का, जिसे भौतिक शिक्षा (Materialistic शिक्षा) या पाश्चात्य शिक्षा (Western education) नाम दिये जाते हैं, उसका एक विराट् व्यंग्य बन गया है। ज्ञानशंकर ने यह भौतिक शिक्षा भारत में इस गुलाम देश में पायी है। शोषण उसका प्रधान केंद्र है, और यही हम उनमें पाते हैं। प्रेमशंकर ने भी यही शिक्षा पायी है, पर स्वतंत्र देश अमेरिका में; अतः वे वस्तुओं का ठीक मूल्य आँकने में ज्ञानशंकर से अधिक सफल होते हैं। उनमें आदर्शवादिता है। उनमें आकर्षण है— जैसे उपन्यास की गति ही वह हैं, उनमें पारस भी है। उन्होंने सबसे पहले Moral values से जगत् को मूल्यांकन करने की ओर प्रेरित किया है; पर धन को—अर्थ को वे अपदार्थ नहीं कर सके। उस हद तक भूतवाद (Materialism) का पलोथन उनमें लगा रहा! वे जिस चीज

को अपने व्यक्तित्व से प्रकाशित करने चले हैं, वह है तो 'सेवा-सदन' में प्रस्तावित 'सेवा' ही, पर प्रेम के स्नेह से वह बहुत स्निग्ध और कोमल तथा मधुर हो रही है, और जहाँ 'सेवासदन' में 'सेवा' प्रायश्चित्त का रूप-हताश मानव का एक आश्रय, एक धार्मिक और नैतिक विधान की भाँति था, 'प्रेमाश्रम' में वह जीवन का अंग बनता दीख रहा है। सुमन दुखी थी, गजानन्द दुखी थे। वे सेवा में शांति पा सकते थे। वे उस ओर गये इसी कारण। पर प्रियनाथ, इर्फानअली, ज्वालासिंह संसार के लिए और अपने लिए उस प्रकार दुखी न थे जिस प्रकार सुमन और गजानंद। उन्हें अपने वैभव को ठुकराना पड़ा है, अपने जीवन के तत्त्व को पाने के लिए। उस जीवन-तत्त्व का अस्तित्व जीवन-तत्त्व के रूप में पहले-पहल प्रेमशंकर ने उपस्थित किया। यदि अंतिम परिणति की दृष्टि से देखा जाय, तो सुखी प्रेमशंकर भी हैं। वे आदर्शवादी; और कम सुखी ज्ञानशंकर भी नहीं—वे घोर यथार्थवादी। पर दो चित्र लेखक ने साथ-साथ रख दिए हैं और लेखक की महानता वहाँ है, जहाँ उन्होंने ज्ञानशंकर को क्षुद्र और घृण्य रखते हुए भी उसे अपने प्रति अवश्य ईमानदार बनाया है। जैसे उसकी क्षुद्रता और घृणास्पदता जहाँ है, वहाँ केवल दूसरों की राय (opinion) ही है—सचाई होते हुए भी सचाई नहीं, क्या यह बात समझी जा सकती है ?

हाँ तो, प्रेमशंकर ने उस सेवा को जीवन का अंग बनाया, और वह अपरिग्रह के उपद्रवों में से होते हुए प्रतिभा-विभोग्य साम्यवाद के समुज्ज्वल श्यामल क्षेत्र की ओर प्रधावित दीखती है। इसी का यह परिणाम हुआ है कि जहाँ 'सेवासदन' समाज से (एस्केप) छुटकारे के लिये स्थापित होती है, वहाँ 'प्रेमाश्रम' समाज को एक व्यवस्था देने के लिये समाज की सेवा करने को

नहीं, समाज में सेवा को जीवन-तत्त्व की भाँति ग्रहण कराने के लिये खड़ा हुआ है। 'प्रेमाश्रम' में सेवा उसी Conviction के साथ आयी है, जिसके साथ एक यथार्थवादी के जीवन में धन-सम्मान आता है।

'सेवासदन' के हिन्दू-मुसलमान 'प्रेमाश्रम' में कुछ बल प्राप्त करते हैं। गाँवों में जहाँ कादिर और मनोहर हिंदूपन और मुसलमानियत को मानव से नीचे रखते हुए ऐसे चलते हैं, जैसे एक हों, अभिन्न हों—जैसे हिन्दू होना और मुसलमान होना अपने-अपने शरीर और आकृति की भिन्नता की भाँति पृथकता रखते हुए उन विभिन्नताओं में किसी एक अटूट और अधिक यथार्थ एकता का अनुभव कराने के लिए हों—वहाँ नगरों में इत्तहाद की गूँज भी है; यानी हिन्दू और मुसलमानों में कोई ऐसी भिन्नता है जो स्वयं एक तल पर नहीं आ सकती, और उसको उस तल पर लाने के लिये ऐसे उद्योगों की आवश्यकता है। फिर भी लेखक का समाज प्रधानतः हिंदू-समाज ही है।

प्रेमाश्रम में जैसे ही लेखक गाँवों में पहुँचा, जमींदार उसके सामने उपस्थित हो गये। नगर की चुंगी को छोड़कर वह असेंब्लियों अथवा कौंसिलों की ओर बढ़ गया। इस नागरिक जीवन की जटिलता को अभी उसने विशेष नहीं लिया, असेंबलियों के सदस्यों की उपहासास्पद स्थिति की ओर इंगित करके ही वह रह गया है। पर, सारी कहानी गाँवों को केंद्र बनाकर चलती है। उसमें ज्ञानशंकर की कुटिलता या जटिलता, द्विपहलू गति (Double personality नहीं)—लेकर जहाँ गाँवों में जमींदारी शासन की कठोरता दिखाती है, वहाँ गायत्री को छलने को राधा-कृष्ण का स्वाँग भी भरती है। वहाँ प्रेम का वासना-संपर्कित उद्दाम रूप दृष्टिगोचर होता है। वह सब जिसपर सुगृहिणी का

बलिदान बड़ी प्रसन्नतापूर्वक चढ़ा दिया जाता है, या जो दानवत्व के निकट जा पहुँचा है। और इस दानवत्व को आशीर्वाद भी मिलता है।

गायत्री जैसे पथ-भ्रष्ट सरिता है, जो अपने अभीष्ट सागर में मिलने से पूर्व ही अपने पश्चात्ताप की अग्नि से बने रेगिस्तान में सूखकर विलीन हो जाती है। लेखक ने वहाँ लिखा—"विधाता ने तेरे (गायत्री अपने अंदर ही आत्म-दुश्चिंता कर रही है) भाग्य में ज्ञान और वैराग्य नहीं लिखा।" इन दुष्कल्पनाओं ने गायत्री को इतना मर्माहत किया कि पश्चात्ताप, आत्मोद्धार और परमार्थ की सारी सदिच्छाएँ लुप्त हो गयीं। उसने उन्मत्त नेत्रों से नीचे की ओर देखा, और तब जैसे कोई चोट खाया हुआ पक्षी दोनों डैने फैलाये वृक्ष से गिरता है, वह दोनों हाथ फैलाये शिखर पर से गिर पड़ी। नीचे एक गहरा कुंड था। उसने उसकी अस्थियों को संसार के निर्दय कटाक्षों से बचाने के लिए अपने अंतस्थल के अपार अंधकार में छिपा लिया।

'श्रद्धा' एक नया सूत्र इस 'प्रेमाश्रम' में उठाया गया है। वह श्रद्धा ही है। पूर्णत: Conservative किंतु अत्यंत करुण और उदार। पति को वह कितना प्रेम करती है; पर इसलिये कि वे अमेरिका जहाज में बैठकर हो आये हैं। वह उन्हें ग्रहण नहीं कर सकती, जब तक वे प्रायश्चित्त न करें। जैसे श्रद्धा रूढ़ियों की कोई अवशिष्ट कड़ी हो, इसे भी विचलित हो जाना पड़ा। प्रेमशंकर के त्याग और सेवा-भाव ने उनमें जिस दिव्यता और पवित्रता का प्रकाश भरा, उनकी निर्मल यशश्री का धवल रूप जब उसने स्वयं देखा और समझा, तो उसे प्राचीन परिपाटी से प्रायश्चित्त का महत्त्व एक भ्रम प्रतीत हुआ। यह सब त्याग-तपस्या स्वयं उसे उत्तम प्रायश्चित्त—उग्र प्रायश्चित्त लगा जिसमें उसका पति

कंचन-कुंदन की भाँति दमक उठा था। श्रद्धा तब विगलित हो चरणों पर गिर पड़ी।

'प्रेमाश्रम' में गृह की ओर भी लेखक झुका है। प्रभाशंकर हिन्दू घर के ही प्रतीक हैं। वही मोह, वही निर्द्वंद्वता, वही ठाट-बाट, वही घर के सम्मान का ढकोसला—यह सब है और कितना भव्य है यह सब। प्रभाशंकर के कार्य एक भव्यता से आवृत्त हैं, फिर चाहे वे कितने ही हलके क्यों न हो गये हों। हाँ तो, घर में उन्होंने प्रवेश किया है—वहाँ पर, किन्तु, स्त्रियों का स्वर उतना उच्च नहीं जितना पुरुषों का। उन्हीं का पारस्परिक संघर्ष और वैमनस्य है। यहाँ तक प्रेमचंदजी ऐसी स्त्री नहीं पा सके जो अपना निजी व्यक्तित्व रखने में सचेष्ट हो। वह निजी व्यक्तित्व जो स्त्रीत्व के व्यक्तित्व के अतिरिक्त होता है।

इस उपन्यास में लेखक ने बालकों को भी लिया है। अपनी कल्पनाशील अवस्था में होड़ के लिए—अपने चचेरे भाई माया शंकर से भी अधिक धनवान् और प्रतिभावान् बनने के लिए वे तन्त्रों में विश्वास करने लगते हैं, और उनपर बलि हो जाते हैं।

'सेवासदन' में गजानन्द साधु—कर्मण्य साधु बनकर रह गया था—'प्रेमाश्रम' में रायसाहब आत्मिक अभ्युत्थान प्राप्त कर तेज-सम्पन्न महात्मा हो जाते हैं।

'सेवासदन' में हमें विवाहित अवस्था ही मिली, 'प्रेमाश्रम' में 'विधवा' का भी प्रवेश हुआ। वह विधवा अपने प्रेम को उद्दीप्त कर लांछित हुई, और किसी कामना को लिए विलीन हुई। देखें, वह फिर कभी अवतार लेती है या नहीं।

'प्रेमाश्रम' में संस्थाएँ रहीं; पर उनका रूप 'सेवा-सदन' की संस्था से भिन्न था। 'प्रेमाश्रम' की संस्था व्यक्ति के अपने-से लोगों का स्वेच्छा से मिलकर बना एक समाज था। —प्रो० सत्येन्द्र

प्रेमाश्रम का प्रतिपाद्य

मित्रो,

प्रेमचंदजी के उपन्यासों और कहानियों के संबंध में साधारण भाव से कह लेने के बाद जब मैंने आपसे पूछा कि कोई ऐसा उपन्यास चुनिये जिसको उपलक्ष्य बनाकर हम अपने सिद्धांतों की जाँच कर सकें, तो मुझे बिलकुल उम्मीद नहीं थी कि आप प्रेमाश्रम का नाम लेंगे। मैंने मन ही मन चार उपन्यासों को सोचा था और विश्वास कर लिया था कि आप इन्हीं चार में से किसी एक का नाम लेंगे। ये चार हैं--सेवासदन, रंगभूमि, कायाकल्प और गोदान। मैं इन चारों को ही प्रेमचंद की प्रतिभा की चार सीढ़ियाँ मानता हूँ। इन चारों में से किसी एक पर बोलने का अवसर देकर आप मुझे अधिक अनुगृहीत करते; क्योंकि ऐसा करने में मुझे ज्यादा सुविधा होती। पर, आपने जब प्रेमाश्रम चुन लिया तो मैं लाचार हूँ। इसलिये नहीं कि मेरी राय में प्रेमाश्रम बहुत घटिया उपन्यास है; बल्कि इसलिये कि मैंने पिछले वक्तव्य में जो कुछ कहा है उसको अच्छी तरह प्रतिपादन करने के लिये प्रेमाश्रम की अपेक्षा उक्त चारों उपन्यासों में का कोई एक ज्यादा उपयुक्त होता। वैसे प्रेमाश्रम में भी वे सभी विशेषताएँ मौजूद हैं जो प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों में हैं और

यद्यपि स्वर्गीय रामदास गौड़ के बहुत-से मित्र सेवासदन की उत्तमता के कारण डर रहे थे कि प्रेमचंद की दूसरी कृति इतनी चोखी न हो सकेगी; परंतु प्रेमाश्रम को देखकर उनका डर निर्मूल सिद्ध हुआ था; क्योंकि "हिंदी माता के सुपुत्र ने मौलिकता-सागर से मथकर यह दूसरा रत्न पेश किया, जो पहले से कहीं ज्यादा कीमती और सुंदर है"; तथापि मैं यह कहने का साहस कर रहा हूँ कि सुंदर और कीमती चाहे जितना हो, इस उपन्यास में प्रेमचंद की वह मौलिक विशेषता गौण हो गयी है जो उनकी अन्य समस्त रचनाओं में पायी जाती है। वह मौलिक विशेषता क्या है, इस बात का आभास मैं संक्षेप में पहले ही दे चुका हूँ। अब प्रेमाश्रम की जाँच करने से यदि वह गौण सिद्ध हो जाय, तो आप स्वीकार करेंगे कि आपके इस ग्रंथ-निर्वाचन ने मुझे जिस संकोच में डाल दिया है, वह ठीक है।

नाम—प्रेमाश्रम नाम से अनुमान होता है कि उपन्यास के अंत में वर्णित प्रेमाश्रम की परिणति ही इस ग्रंथ का प्रधान प्रतिपाद्य है और उक्त आश्रम के नेता ही ग्रंथ के वास्तविक नायक हैं। परंतु, यह बात ठीक नहीं है। इतना जरूर है कि ग्रंथकार की इच्छा यही रही है कि प्रेमाश्रम की परिणति ही इसका प्रधान प्रतिपाद्य हो और प्रेमशंकर ही इसके प्रधान पात्र हों; परंतु सब मिला के उसकी इच्छा सफल नहीं हुई है। ग्रंथ का प्रतिपाद्य कुछ और ही हो गया है तथा उपन्यास का नायक भी वस्तुतः कोई और ही हो गया है। किसी-किसी समीक्षक ने कहा है कि यह उपन्यास "कृषक जीवन की दयनीय दशाओं तथा मानवीय प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करनेवाला" और "किसानों और जमींदारों के अधिकार-युद्ध की करुण कथा का कलात्मक रूप ही है"। परंतु, विचारपूर्वक देखा जाय तो ये दोनों ही बातें

प्रेमाश्रम में गौण हो गयी हैं। मुख्य बात कुछ और ही है। देखा जाय, वह क्या है?

प्राचीन आचार्यों ने किसी ग्रंथ या प्रकरण के तात्पर्य को समझने के छ उपाय बताये हैं—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्य-निर्णये॥

अर्थात (१) उपक्रम (आरंभ) और उपसंहार, (२) बार-बार किसी बात की चर्चा, (३) अपूर्वता, (४) फल या प्रयोजन, (५) अर्थवाद या किसी बात की स्तुति-निंदा और (६) उपपत्ति या युक्ति। ये छ बातें किसी ग्रंथ या प्रकरण के तात्पर्य-निर्णय में कारण होती हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में सैकड़ों ग्रंथों का तात्पर्य इसी नियम के अनुसार निर्णय किया गया है और इस प्रकार इस नियम की प्रामाणिकता हजारों वर्षों से अनुभूत और परीक्षित हो चुकी है। एक बार फिर इस नियम के आधार पर एक संपूर्ण रतन साहित्यांग की जाँच करने में कोई हर्ज नहीं है।

उपक्रम और उपसंहार—पुस्तक खोलते ही लखनपुर गाँव के किसान साँझ के समय बैठे बातें करते हुए दिखायी देते हैं। इनकी बातचीत का विषय शुरू में तो अंग्रेजों की प्रशंसा और अपने देशी हाकिमों और जमींदारों की निंदा होती है; पर बाद में जमींदार के चपरासी गिरधर महाराज का आगमन होता है जो 'जबान से सबके दोस्त और दिल से सबके दुश्मन' हैं। ये महाशय असामियों को घी के लिये रुपये बाँटने आये हैं। घी रुपये सेर का कटेगा, जब कि बाजार-भाव दस छटाँक का है और जिन्हें रुपये दिये जायँगे उनके पास या तो घी है ही नहीं, या है भी तो बहुत कम। मनोहर रुपये लेने से इन्कार करता है और

चपरासी के साथ उसका बत-बढ़ाव हो जाता है। गिरधर कहते हैं—"मनोहर, घी तो तुम दोगे दौड़ते हुए ; पर चार बातें सुन-कर। जमींदार के गाँव में रहकर उससे हेकड़ी नहीं चल सकती। अभी कारिंदा साहब बुलायेंगे, तो रुपये भी दोगे, हाथ-पैर भी पड़ोगे, मैं सीधे कहता हूँ तो तेवर बदलते हो।" इसपर मनोहर गर्म होकर कहता है—'न कारिंदा कोई काटू है, न जमींदार कोई हौवा है। यहाँ कोई दबैल नहीं है, जब कौड़ी-कौड़ी लगान चुकाते हैं, धौंस क्यों सहें।'

परंतु आगे की कथा बताती है कि कारिंदा सचमुच काटू है और जमींदार हौवा है। सारा गाँव दबैल भी है और लगान ही नहीं, लगान के कई गुना बेगार चुकाने पर भी धौंस सहना ही उनका कार्य है। सारा गाँव जमींदार की कोपाग्नि में भस्म हो जाता है ; परंतु जमींदारी-प्रथा के नष्ट होते ही, उपसंहार में फिर इसी लखनपुर गाँव में हम देखते हैं कि सारा दुःख-दर्द दूर हो गया है, लोग बड़े आराम से रहने लगे हैं। इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार में यद्यपि 'किसानों के जीवन की सच्ची फोटो' खींची गयी है; पर उसका उद्देश्य जमींदारी प्रथा की अनिष्टता दिखाना ही है।

लेकिन, यद्यपि ग्रंथकार आदि और अन्त में लखनपुर का यह वर्णन देता है तथापि यह मूल कथा का न तो उपक्रम ही है और न उपसंहार ही। मूल कथा का जन्मस्थान बनारस है, कर्म-स्थान लखनऊ और गोरखपुर है और अन्तस्थान गंगा की धारा है। लखनपुर की मनोरंजक कहानी—उसका आदि उत्तेजक, करुण मध्य और सुखकर अन्त—सभी उसी मूल कथा के रंग को गाढ़ा कर देने के लिये हैं। इसके उत्तेजक आदि के नेता जमींदार और उसके चपरासी हैं, करुण मध्य के संचालक मनोहर, विलासी और बलराज हैं, और सुखकर अन्त के स्रष्टा प्रेमशंकर और

मायाशंकर हैं, जिनमें से कोई भी मूल कथा के रंग को गाढ़ा या स्पष्ट कर देने के सिवाय और कोई कार्य नहीं करता। इसी से यह स्पष्ट है कि प्रेमशंकर इस कथा के नायक नहीं हैं।

मूल कथा के नायक हैं ज्ञानशंकर, जिनके चरित्र की पृष्ठ-भूमिका में प्रभाशंकर शुरू से आखिर तक प्रकाश्य-प्रकाशक भाव से वर्तमान है। प्रभाशंकर को इस ग्रन्थ में से अगर निकाल दिया जाय तो मूल कथा बिना रीढ़ की हो जायगी; जब कि ज्ञानशंकर को निकाल देने से वह निर्जीव हो जायगी। दूसरे परिच्छेद में ही ग्रन्थकार ज्ञानशंकर के उस स्वभाव का परिचय करा देता है जो सारी कथा को अग्रसर करने के लिये नितान्त आवश्यक है। ज्ञानशंकर के हृदय में भावी उन्नति की बड़ी-बड़ी अभिलाषाएँ थीं। वह अपने परिवार को फिर समृद्धि और सम्मान के शिखर पर ले जाना चाहते थे। घोड़े और फिटन की उन्हें बड़ी आकाँक्षा थी। वह शान से फिटन पर बैठकर निकलना चाहते थे कि हठात् लोगों की आँखें उनकी तरफ आकृष्ट हो जावें। चैन से जीवन व्यतीत हो, यही उनका ध्येय था। आराम को अनायास ही पा जाने की आकाँक्षा और दारुण अधिकार-लिप्सा ज्ञानशंकर की प्रकृतिगत विशेषता थी। यही स्वभाव कहानी का वास्तविक उपक्रम है। इस स्वभाव ने ही लखनपुर को विपत्ति के भाड़ में झोंक दिया, उनके हाथों श्वशुर को विष दिलाया, पतिव्रता गायत्री को नियम-भ्रष्ट किया, अपनी ही पत्नी विद्या के आत्मघात का कारण बना और ऐसा मन, वचन और कर्म-संबंधी कोई अन्यायाचरण नहीं है जिसे नहीं कराया और अन्त में उन्हें भी ले डूबा। सारी कथा अधिकार-लिप्सा—तत्रापि जमींदारी-वृत्ति—की दारुण तृष्णा का परिणाम है। जो कोई भी थोड़ा या बहुत इस काजल की कोठरी के संपर्क में आया है वही कलंकित हुआ है। उबर गये हैं वे

जिन्होंने इसे शुरू से ही प्रणाम कर दिया है। प्रेमशंकर ऐसे ही हैं, मायाशंकर ऐसे ही हैं, विद्या ऐसी ही है। इस प्रकार मूल कथा के उपक्रम और उपसंहार में भी ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा जमींदारी-प्रथा की अनिष्टकारिता दिखाना ही जान पड़ती है। किसानों की दयनीय दशा और मानवीय प्रवृत्तियों का वैज्ञानिक विश्लेषण, इसी प्रतिज्ञा के प्रतिपादन के साधन हैं।

अभ्यास—सारी पुस्तक में बार-बार घूम-फिरकर ग्रन्थकार स्मरण दिला देता है कि जमींदारी-प्रथा ही समस्त अनर्थों की जड़ है। साधारण भाव से वह समस्त अधिकारों के विरुद्ध है, पर इस ग्रंथ का विशेष प्रतिपाद्य जमींदारी-प्रथा की अनिष्टकारिता ही है। यही कारण है कि ऐसे पात्रों के कार्यों से भी जो पाठकों की सहानुभूति और आदर योग्य हैं वह इस प्रथा की अनिष्ठता सिद्ध करता चलता है। गायत्री और राय कमलानन्द पाठकों के सहानुभूति और आदर के पात्र हैं। गायत्री विद्या से कहती है—"तुम बाबूजी (राय कमलानंद) पर अन्याय करती हो, आखिर रुपये कैसे वसूल होते ? निर्दयता अच्छी बात नहीं, पर इसके बिना काम ही न चले तो क्या किया जाय ? तुम्हारे जीजा कैसे सज्जन थे…लेकिन उन्हें भी असामियों पर सख्ती करनी पड़ती थी। मैंने स्वयं उन्हें असामियों को मुश्कें कस के पिटवाते देखा है। जब कोई और उपाय न सूझता तो उनके घरों में आग लगवा देते थे और अब मुझे भी वही करना पड़ता है। उस समय मैं समझती थी कि यह व्यर्थ इतना जुल्म करते हैं। उन्हें समझाया करती थी पर जब अपने माथे पड़ गयी तो अनुभव हुआ कि ये नीच बिना मार खाये रुपये नहीं देते। घर में रुपये रखे रहते हैं, पर जब तक दो-चार लात-घूँसे न खा लें या गालियाँ न सुन लें, देने का नाम नहीं लेते। यह उनकी आदत है।" स्वयं राय

 Roll No 2 196 (First year)

कमलानंद अपने दामाद ज्ञानशंकर से, जिसने उन्हें विष दिया था, कहते हैं—"मैं जानता हूँ कि इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। यह हमारे वर्तमान लोक-व्यवहार का दोष है। यह सारी विडंबना इसी जायदाद का फल है। इसी जायदाद के कारण हम और तुम एक दूसरे के खून के प्यासे हो रहे हैं।" फिर, इस जायदाद की वास्तविकता क्या है?—'इसे रियासत कहना भूल है, यह निरी दलाली है। नवाबों के जमाने में किसी सूबेदार ने इस इलाके की आमदनी वसूल करने के लिये मेरे दादा को नियुक्त किया था।···अंग्रेजों का जमाना आया और यह अधिकार पिताजी के हाथ से निकल गया; लेकिन राज-विद्रोह के समय पिताजी ने तन, मन से अँग्रेजों की सहायता की। शांति स्थापित होने पर हमें वही पुराना अधिकार मिल गया। यही इस रियासत की हकीकत है। हम केवल लगान वसूल करने के लिये रखे गये हैं। इसी दलाली के लिये हम एक दूसरे के खून से हाथ रँगते हैं, इसी दीन हत्या को हम रोब कहते हैं, इसी कारिंदागिरी पर हम फूले नहीं समाते। सरकार अपना मतलब निकालने के लिये हमें मालिक कहती है; लेकिन जब साल में दो बार हमसे मालगुजारी वसूल की जाती है तब हम मालिक कहाँ रहे? यह सब धोखे की टट्टी है। तुम कहोगे, यह सब कोरी बकवाद है, रियासत इतनी बुरी चीज है, तो छोड़ क्यों नहीं देते? हाँ, यही तो रोना है कि इस रियासत ने हमें विलासी, आलसी और अपाहिज बना दिया, हम किसी काम के नहीं रहे। हम पालतू चिड़ियाँ हैं, हमारे पंख शक्ति-हीन हो गये हैं। हममें अब उड़ने की सामर्थ्य नहीं है। हमारी दृष्टि सदैव अपने पिंजरे के कुल्हिये और प्याली पर रहती है, हमने अपनी स्वाधीनता को मीठे टुकड़ों पर बेच दिया है।'

मुझे खेद है कि मैं लंबे उद्धरणों में बात कर रहा हूँ। आप जानते हैं कि मैं उद्धरणों को बढ़ाने में विशेष आनंद नहीं पाता; पर इतनी साफ, जोरदार और मना छोड़नेवाली भाषा की संपत्ति मेरे पास कहाँ है? इन उद्धरणों से अधिक स्पष्ट भाषा में हम इस बात को कैसे प्रकट कर सकते हैं?

अर्थवाद—उपन्यास में प्रधान कथा के उन्नायक चरित्रों के सिवा जितने भी व्यक्ति हैं, जितनी भी घटनाएँ हैं, जितने भी वार्तालाप हैं वे सभी इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये आते हैं। कभी-कभी वे सरकार की बदनीयती का सबूत लेकर भी उपस्थित होते हैं; पर ऐसा एक भी गौण चरित्र नहीं है जो जमींदारी-प्रथा के काले चित्र को और भी गाढ़ा न कर देता हो। डाक्टर प्रियनाथ चौपड़ा, बैरिस्टर इर्फानअली, तहसीलदार ज्वालासिंह—सभी इस कंबख्त प्रथा के झपेटे में आ जाते हैं। जब कभी वे न्याय का पक्ष लेना चाहते हैं, जमींदार की मोटी रकम का वादा उनके सामने आ खड़ा होता है। सनातन-धर्म-सभा का भड़कीला अधिवेशन, सैयद ईजाद हुसेन के यतीमखाने का हास्यास्पद स्वांग, ग्रामीणों का सरल अभिनय और रासमंडली की शानदार सफलता—प्रत्येक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस काले धब्बे को और भी काला कर देते हैं। ग्रंथ में जहाँ कहीं भी अनावश्यक वाग्विस्तार वा घटना-योजना हुई है वह सिर्फ ग्रंथकार के उक्त अभिमत की पुष्टि के लिये हुई है। समीक्षकों ने ठीक ही कहा है कि कथा की रोचकता की दृष्टि से सनातन-धर्म-सभा का भड़कीला अधिवेशन व्यर्थ है; परंतु इस व्यर्थ योजना का उद्देश्य भी स्पष्ट ही जमींदारी-प्रथा की कलंक-रेखा और भी स्पष्ट कर देना है। तेजशंकर और पद्मशंकर के भैरव-विश्वास और बलिदान की कहानी एकदम अनावश्यक है, फिर भी ग्रंथ में उसे जोड़ने का

बहाना ग्रंथकार को यही मिला है कि मायाशंकर की अनायास संपत्ति-प्राप्ति इस दारुण बलिदान का कारण थी।

उपपत्ति—जब कभी और जहाँ कहीं भी ग्रंथकार को अवसर मिला है वहाँ अत्यंत आप्त-पात्रों के मुख से वह यह कहलाने में नहीं चूकता कि जमींदारी-प्रथा के मूलोच्छेद हुए बिना कृषकों की दीनता और अकृषकों की चरित्र-भ्रष्टता नहीं दूर हो सकती। इस बात को कहनेवाले वे होते हैं जो बड़े-बड़े ताल्लुकेदार हैं, जैसे राय कमलानंद और गायत्री, जो कानून और अर्थ-शास्त्र का ज्ञान रखते हैं, जैसे इर्फानअली, जो इस प्रथा के रथ घर्घर से अपनी आत्मा का पिस जाना अनुभव कर चुके हैं, जैसे ज्वालासिंह, दयाशंकर और डाक्टर प्रियनाथ और अन्त में अपने सबसे निर्दोष, सबसे समृद्ध, सबसे होनहार पात्र मायाशंकर से उपसंहार कराते हुए ग्रंथकार ने मानो समस्त ग्रंथ का अभीष्ट प्रतिपाद्य कहलवा दिया है। "जमींदार इसलिये नहीं है कि प्रजा के पसीने की कमाई को भोग-विलास और विषय में उड़ाये, उनके टूटे-फूटे झोंपड़ों के सामने अपना ऊँचा महल खड़ा करे, उसकी नग्नता को अपने रत्न-जटित वस्त्रों से अपमानित करे, उनकी सन्तोषमय सरलता को अपने पार्थिव वैभव से लज्जित करे, अपनी स्वाद-लिप्सा से उनकी क्षुधा-पीड़ा का उपहास करे। अपने स्वत्वों पर जान देता हो, पर अपने कर्तव्यों से अनभिज्ञ हो। ऐसे निरंकुश प्राणियों से प्रजा की जितनी जल्द मुक्ति हो, उनका भार प्रजा के सिर से जितनी ही जल्द दूर हो, उतना ही अच्छा हो।" यह केवल कल्पना नहीं है। पुस्तक के अन्तिम पृष्ठ पर लखनपुर के सर्वाधिक विश्वसनीय कादिर के मुँह से हम सुनते हैं—'सुक्खी को देखो पहले बीस बीघे का काश्तकार था, १००) लगान देने पड़ते थे। दस-बीस रुपये साल में नजराने

निकल जाते थे। अब जुमला २०) लगान है, नजराना नहीं लगता। पहले अनाज खलिहान से घर तक न आता था। आपके चपरासी, कारिन्दे वहीं गला दबाकर तुलवा लेते थे। अब अनाज घर में भरते हैं और सुभीते से बेचते हैं। दो साल में कुछ नहीं तो तीन-चार सौ बचे होंगे। डेढ़ सौ की एक जोड़ी बैल लाये, घर की मरम्मत करायी, सायबान डाला। हाँड़ियों की जगह ताँबे और पीतल के बर्तन लिये और सबसे बड़ी बात यह कि अब किसी की धौंस नहीं, मालगुजारी दाखिल करके चुपके घर चले आते हैं। नहीं तो हरदम जान सूली पर चढ़ी रहती थी। अब अल्लाह की इबादत में जी भी लगता है, नहीं तो नमाज भी बोझ मालूम होती थी।' इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि से ग्रंथ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय जमींदारी-प्रथा की अनिष्टकारिता है।

अब आप प्रश्न कर सकते हैं कि 'तो क्या प्रेमशंकर की सारी तपस्या व्यर्थ है? क्या प्रेम और भ्रातृभाव का महान आदर्श इस उपन्यास में अत्यन्त उपेक्षणीय होकर ही आया है? या फिर साधारण भाव से आप पूछ सकते हैं कि सारा ग्रंथ एक नकारात्मक उद्देश्य से ही लिखा गया है।' उत्तर में मेरा निवेदन है कि प्रेमशंकर की तपस्या उपेक्षणीय भी नहीं है, उसने अपना महत्वपूर्ण प्रभाव भी डाला है और कहानी को गति देने में मूल कारणों के साथ भी रहा है। परंतु, उसका क्षेत्र एक गौण कथानक होने के कारण वह मूल कहानी का मुख्य उपादान नहीं हो सका है। लखनपुरवाली कहानी केवल उपर्युक्त उद्देश्य (जमींदारी-प्रथा की अनिष्टकारिता) दिखाने के लिये है और उक्त ग्राम की दुःख-दुर्दशा को दूर करने में प्रेमशंकर के प्रेम का आदर्श बहुत कुछ सहायता करता है—क्योंकि उसी आदर्श के कारण इर्फानअली, ज्वालासिंह और प्रियनाथ किसानों के पक्ष में आ जाते

हैं—परन्तु मूल कथानक में उस आदर्श का प्रभाव बहुत ही कम है। इसलिए जहाँ तक प्रेमाश्रम का सम्बन्ध है प्रेमचन्दजी अपने भावात्मक आदर्शों को प्रधानता नहीं दे सके हैं और अभावात्मक आदर्श प्रधान हो गये हैं।*

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

I have read this
book in [illegible]
Student [illegible]
Hindi [illegible]
advise [illegible]
read this [illegible]
Your[illegible]
[illegible]

---

*शान्ति-निकेतन में हिन्दी समाज के सामने पढ़े गये व्याख्यान का एक अंश। —संपादक

प्रेमाश्रम

'वरदान' के बाद 'प्रेमाश्रम' के दर्शन हुए। हिंदी-साहित्य के सौभाग्य से प्रेमचंदजी की लेखनी में कोई भी शिथिलता नहीं आने पाई। संसार दूसरा है, समय भी दूसरा है। 'सेवासदन' में चित्र कम हैं, पर साफ हैं। 'प्रेमाश्रम' में चित्र बहुत हैं, और उनमें से कुछ दुर्बोध भी हैं, पर चित्रणकला में कहीं भी शिथिलता नहीं आने पायी है। 'सेवासदन' का उद्देश्य सामाजिक है और 'प्रेमाश्रम' का राजनीतिक; परंतु दोनों देश-प्रेम के सूत्र में बँधे हैं। हिंदी-संसार के उपन्यास-साहित्य में 'प्रेमाश्रम' 'सेवासदन' से कम नहीं है। और यदि किसी पुस्तक के प्रभाव से उसके पद का निरीक्षण हो, तो शायद 'प्रेमाश्रम' आधुनिक भारतीय उपन्यास-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ उतरे।

'प्रेमाश्रम' की समालोचना करने के लिए हम किस पद्धति का प्रयोग करें? बंकिमचंद्रजी के उपन्यासों को देखकर अँगरेजी-साहित्य से परिचित समालोचक तुरत कह सकते हैं कि यह स्कॉट के ढर्रे के ऐतिहासिक उपन्यास हैं। रवींद्रनाथजी के उपन्यासों को आप सामाजिक कह सकते हैं। आपको अँगरेजी-साहित्य में इनकी जोड़ के बहुत-से उपन्यास-लेखक मिलेंगे। जार्ज इलियट, थैकरे, या डिकेंस—इनके तथा रवींद्रनाथजी के उपन्यास-क्षेत्र में कोई

भारी भेद नहीं है। परंतु प्रेमचंदजी के उपन्यास इन श्रेणियों में से किसी में नहीं आ सकते। इन उपन्यासकारों का काम यह है कि किसी समय के समाज का चित्र खींच दिया, और पात्रों से सहानुभूति दिखाकर, उनकी हँसी उड़ाकर, या उन्हें नीचा दिखाकर, पाठकों के चरित्र सुधारने का प्रयत्न किया। परंतु, इनमें भविष्य का चित्र नहीं है। कला में शायद यह प्रेमचंदजी से अधिक निपुण हों; परंतु इनमें वह उत्तेजना-शक्ति नहीं, इतना कल्पना का विकास नहीं। वे समाज के सामने एक आइना रख सकते हैं जिसे देखकर वह हँसे या कुढ़े; परंतु उस आइने के पीछे कोई चित्र नहीं, जिसकी सुंदरता तक पहुँचने के लिए उसके हृदय में उत्तेजना हो।

'प्रेमाश्रम' के उपन्यास-पट पर सामने तो १६२१ के भारतीय समाज का स्पष्ट चित्र है, और पीछे किसी भावी भारत की छाया है। ऐसे चित्र का क्या नामकरण हो? क्या 'प्रेमाश्रम' दार्शनिक उपन्यासों की श्रेणी में रक्खा जाय?

श्रेणी-बद्ध करना समालोचक के काम को सरल करना है, परंतु हम उसे ऐसा करने में असमर्थ हैं। अस्तु, चाहे जो कठिनता हो, हम बिना नामकरण किये ही इसका अवलोकन करते हैं।

उपन्यास की भूमिका प्रायः यों होती है—कोई पहाड़ी दृश्य है, प्रकृति का कोई विलक्षण आभास है। पात्रों के दर्शन हुए। कोई राजकुमार है, तो कोई उसका सखा है, या वैरी है। दैवयोग से किसी नवयौवना से भेंट हो जाती है। वह भी कोई राजकुमारी है। पर उसका पिता विवाह के लिए राजी नहीं होता। बहुत-सी कठिनाइयों के बाद—जिनमें और भी उसी मेल के पात्र अपना दर्शन देते हैं—मिलन या प्राणांत का विवरण देकर कहानी समाप्त होती है।

यहाँ सुक्खू चौधरी, बलराज, रबी की फसल, नौकरी और साम्यवाद को कौन पूछता है! बड़े-बड़े राजमंदिरों, क़िलों

और उनके तिलिस्मों के मुक़ाबिले बिचारे लखनपुर या हाजीपुर के झोपड़ों को कौन देखता है! सेवासदन का प्रसंग तो शायद प्रचलित उपन्यासों के पाठक समझ सकें। प्रेमाश्रम में क्या है! भला दुखरन भगत, मनोहर, गौसखाँ, क़ादिर मियाँ और बेगार के दिहाती झगड़ों में क्या मनोरंजन!

यह प्रेमचंदजी का ही काम था कि वह दिहाती झगड़ों का करुणाजनक दृश्य दिखाने में सफल हुए हैं। यों तो राय कमलानंद, गायत्री, विद्या, ज्ञानशंकर, ज्वालासिंह, डा० इर्फ़ानअली के राग-रंग नगर-निवासियों के हैं; परतु उनका अस्तित्व दिहात ही से है। सुक्खू, विलासी, मनोहर, बलराज, कादिर मियाँ— ये सब तो पूरे दिहाती ही हैं।

चरित्र-चित्रण-कला को जाने दीजिए। शायद किसी और समय, दिहात और बेगार, मुकदमेबाजी और नौकरी के प्रश्न इतने रुचिकर न होते, पर यह उपन्यास सन् १६२१ का लिखा हुआ है और उस वर्ष के अंदर जितना आंदोलन और राजनीतिक ज्ञान दिहातों में पहुँच गया, उतना शायद ही साधारणतः पचास वर्षों में पहुँचता।

प्रेमाश्रम हाजीपुर का दूसरा नाम है, परंतु उपन्यास की नीव में लखनपुर है। वह बनारस के पास हो या कलकत्ते के— इससे कोई प्रयोजन नहीं। सुक्खू चौधरी के से पंचों के खँडहर, कादिर मियाँ के से नरम दिहाती नेता, मनोहर के से अक्खड़ किसान, बलराज के से उदार-हृदय और बलिष्ठ नवयुवक भारतवर्ष के प्रत्येक गाँव में देख सकते हो। यों तो ये बहुत समय से अज्ञानावस्था का सुख भोगते चले आ रहे थे। उनके प्रभाशंकर के से जमींदार थे, जिनको अभी तक पाश्चात्य सभ्यता की हवा नहीं लगी थी, जो अभ्यागतों के सम्मान में अपनी

इज्जत समझते थे, जिनको अपने असामियों के प्रति सहानुभूति थी, जिन्हें उनके विरुद्ध अदालत जाने में संकोच होता था। ऐसे समय जमींदार भी सुखी थे और उनके किसान भी।

परंतु इधर पाश्चात्य सभ्यता का आगमन हुआ। चीजों की निर्ख बढ़ी, सो तो ठीक ही था; मालिकों की आवश्यकताएँ भी बढ़ीं। जिन जमींदारों के पुरखे बहलियों पर चढ़ते थे, घुटने के ऊपर तक धोती और चार आने सिलाई का अँगरखा या मिर्जई पहनते थे, उनकी संतानों के लिए मोटर की सवारी, लंबी रेशमी किनारे की धोती और साहबी ठाट की आवश्यकता पड़ने लगी। दिहात की उन्नति कौन करता है! इजाफा और बेदखली का अत्याचार होना आवश्यक था।

अभी तक लखनपुर पर सिर्फ उन्हीं मनुष्यों का अत्याचार है, जो वर्षा-ऋतु के बाद गाँवों पर धावा करते हैं। अभी ज्ञानशंकर ने जमींदारी पर हाथ नहीं लगाया। इसलिए, अभी मनोहर के साथियों का यही विचार है कि अँगरेज हाकिम अच्छे होते हैं। परंतु इधर प्रभाशंकर का बुढ़ापा, जमींदारी की आमदनी से ज्यादा खर्च, और उधर ज्ञानशंकर पर पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव और यौवन का उमंग! ज्ञानशंकर ने हर तरफ हाथ बढ़ाना शुरू कर दिया। बस, इनके पदार्पण से उपन्यास का प्रादुर्भाव होता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि इस उपन्यास में कोई नायक-नायिका हैं या नहीं? यदि हैं, तो कौन हैं, और नहीं हैं, तो क्यों नहीं?

यह तो मान ही नहीं सकते कि इस उपन्यास में नायक और नायिका हैं ही नहीं। यदि चरित्र की उज्ज्वलता पर ही ध्यान दिया जाय, तो एक ओर प्रेमशंकर और दूसरी ओर विद्या—यही

पात्र लेखक के आदर्श मालूम पड़ते हैं। लखनपुर में कादिर मियाँ और शहर में राय कमलानंद, इन पात्रों की ओर भी लेखक का आदर-भाव है; परंतु हमारा विचार है कि चरित्र की उज्ज्वलता ही की कसौटी पर हम नायक तथा नायिका की परख नहीं कर सकते। देखना यह चाहिये कि किस चरित्र के चित्रण में लेखक ने अधिक परिश्रम किया है, किस पात्र के सहारे कहानी आगे बढ़ती है और किसके न होने से उसका अंत हो जाता है। बंकिम की 'दुर्गेश-नंदिनी' में जगतसिंह प्रेमी है और तिलोत्तमा उसकी प्रेमिका; परंतु आयेशा उपन्यास की नायिका है। 'सेवासदन' में उपन्यास को सुमन का सहारा है; यद्यपि चरित्र बिट्ठलदास का ही आदरणीय है। इस उपन्यास में ज्ञानशंकर का चरित्र आदरणीय नहीं है। गायत्री भी विद्या के सामने तुच्छ मालूम पड़ती है; परंतु हैं ये उपन्यास के नायक और नायिका। ज्ञानशंकर न होते तो कोई लखनपुर का नाम ही न सुनता। इतिहास तो विपत्तियों का ही लिखा जाता है। देखिये न, भविष्य में समृद्धिशाली, सुखमय लखनपुर की झलक दिखाने में लेखक ने कितने कम पन्ने रँगे हैं। यदि प्रभाशंकर मालिक बने रहते तो मनोहर से क्यों झगड़ा उठता, इजाफे की क्यों तजवीज होती! उपन्यास के लिये एक शिक्षित, उत्साही, ऐश्वर्य-लोलुप; परंतु चरित्रहीन नायक की आवश्यकता थी। ज्ञानशंकर की सृष्टि करना लेखक के लिये आवश्यक था।

ज्ञानशंकर का चरित्र बहुत जटिल है। एक भारतीय नवयुवक पर पश्चिमी शिक्षा की नयी रोशनी का प्राथमिक प्रभाव क्या पड़ता है, यह बहुत ही खूबी के साथ दिखलाया गया है। यह बात नहीं थी कि उक्त शिक्षा ने उसकी भारतीय आत्मा को ही नष्ट कर दिया हो। जब कभी किसी पवित्र

आत्मा के सामने उसकी ऐश्वर्य-लोलुपता का परदा हट जाता है, तो हमें उसकी अंतरात्मा के मधुर प्रकाश की झलक देख पड़ती है; परंतु फिर परदा गिर जाता है और ज्ञानशंकर फिर उसी ऐश्वर्य-छाया की ओर बढ़ता हुआ दिखायी देता है। ज्ञानशंकर नायक होते हुए भी अपने भाग्य का विधाता नहीं है। विधाता काल है। वह समझता है कि अपनी चतुरता के बल पर वह अपना भविष्य आनंदमय बना सकेगा; परंतु काल उसे भी नचाता है। प्रभाशंकर की भलमनसाहत, प्रेमशंकर के त्याग, गायत्री की लालसा, ज्वालासिंह के स्वाभिमान, राय कमलानंद की निष्काम संसारपरता—सभी से वह लाभ उठाता मालूम होता है। पर किसलिए? पुत्र मायाशंकर के लिए? क्या यह निश्चय है कि उसकी वृत्ति अपने पिता के पदांक का अनुसरण करेगी? वह भविष्य जिसके लिए ज्ञानशंकर ने राय कमलानंद को जहर दिया और गायत्री को फँसाने का प्रेम-जाल रचा, उसके हाथ से निकलकर प्रेमशंकर से मिल गया। राय कमलानंद की भविष्यवाणी पूर्ण हुई "धन संपत्ति तुम्हारे भाग्य में नहीं है, तुम जो चालें चलोगे, सब उलटी पड़ेंगी।" "मनुष्य कितना दीन, कितना परवश है! और भावी कितनी प्रबल, कितनी कठोर!" ऐश्वर्य-लोलुपता का ऐसा विशाल चित्र हिंदी-साहित्य भर में शायद ही और हो।

उपन्यास के दो अंग हो सकते हैं; एक सामाजिक, दूसरा राजनीतिक। ज्ञानशंकर दोनों को बाँधे हुए हैं। पर इन दोनों में एक एक प्रधान हैं। सामाजिक अंग पर गायत्री का प्रभुत्व है और राजनीतिक अंग के विधाता प्रेमशंकर हैं।

गायत्री के चरित्र का इजाफे से कोई संबंध नहीं है। वह एक बड़ी भारी जिमींदारी की मालकिन अवश्य है। उसके प्रबंध के

लिए वह ज्ञानशंकर को बुलाती है। परंतु इन बातों का उसके चरित्र से कोई विशेष संबंध नहीं है। उसमें धर्मनिष्ठा है; परंतु साथ ही सुख-भोग की सामग्री भी उसके पास बहुत है। सुमन सधवा थी, उसका पतन समाज की कुरुचि और उसकी दरिद्रता ने किया। गायत्री का पतन उसमें धर्म-निष्ठा होते हुए भी सांसारिक लालसा से होता है।

'आँख की किरकिरी' में माया (विनोदिनी) का पतन दूसरी तरह होता है। रवींद्रनाथजी ने एक ही भाव को लेकर हर पहलू से उसे दिखाया है। माया का लालसामय प्रेम सामाजिक बंधनों को तोड़कर नग्न रूप में अपनी कला के बल से हमें चकित अवश्य कर देता है, पर विचारपूर्वक देखिए, तो यह हिंदू-समाज के लिए स्वाभाविक नहीं है। गायत्री का पतन धर्म-जाल की ओट से होता है। उसे नहीं मालूम होता कि वह किधर जा रही है और जब अकस्मात् उसके सामने पाप का अंधकारमय गढ़ा दिखायी देता है, तो फिर वह समाज को अपना मुँह नहीं दिखाती। हिंदू विधवा का पतन यों ही होना स्वाभाविक है।

जीवित उदाहरणों को किसी तीर्थ में जाकर देखिये। जिस धर्म के नाम पर व्यभिचार होता है, उसके सजीव प्रतिबिंब गायत्री और ज्ञानशंकर के चित्र में हैं। सुमन का उद्धार करना आवश्यक था, नहीं तो सेवासदन का विकास ही न होता। गायत्री के उद्धार की कोई आवश्यकता नहीं थी, इसीलिए लेखक ने उसे चार सतरों के अंदर अनंत विस्मृति में विलीन कर देना ही ठीक समझा। ज्ञानशंकर के लिए भी ऐसा ही अंत होना जरूरी था।

उपन्यास का वह अंश अधिक करुणामय है, जिसमें लखनपुर की गाथा है। इस अंश के प्रधान पात्र प्रेमशंकर हैं।

यदि पश्चिमी शिक्षा का एक फल ज्ञानशंकर की ऐश्वर्य-लोलुपता में है, तो दूसरा फल प्रेमशंकर की निष्काम जाति-सेवा में है। जिस समुद्र में हलाहल विष है, उसमें अमृत भी है। प्रेमशंकर उस शिक्षा के अमृतरूपी फल हैं। कुछ मित्रों का खयाल है कि प्रेमशंकर में गाँधीजी की छाया है। हम लेखक के मन की थाह लेने का साहस तो नहीं कर सकते, हमें तो इस पात्र में महर्षि टॉल्स्टाय के चरित्र की छाया दिखाई पड़ती है।

ज्ञानशंकर चाहते हैं कि प्रेमशंकर को गाँव का आधा हिस्सा न देना पड़े। इसके लिए क्या-क्या जाल रचे, श्रद्धा को कहाँ तक भरा, बिरादरी को कहाँ तक उभाड़ा ! परंतु प्रेमशंकर अमेरिका से और ही पाठ सीख आये हैं। उन्हें साम्यवादियों के मतानुसार एक आदर्श कृषक-संस्था तैयार करनी थी; गाँव को तिलांजलि दे दी और जाति-सेवा में लीन हो गये। श्रद्धा छूट गयी; उसका उन्हें समय-समय पर शोक होता है। भाई से बिगाड़ हो गया, इसके लिए भी उनकी आत्मा को क्लेश होता है ; पर वह अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होते। इसीलिए लेखक ने भी भविष्य की बागडोर को उनके हाथ से नहीं जाने दिया।

प्रेमशंकर हाजीपुर को एक साम्यवादी गाँव बना देते हैं। लखनपुर का उद्धार करते हैं और मायाशंकर को आदर्श जमींदार का पद देने में सफल होते हैं। प्रेमशंकर के संसर्ग में जो पात्र आया, उसको उन्होंने पवित्र कर दिया। उद्दंड मनोहर, स्वार्थी ज्ञानशंकर, और लालसामयी गायत्री इस योग्य नहीं थे ; इसीलिए लेखक ने इनका अंत ही कर दिया। सुक्खू चौधरी वैरागी हो गया, ज्वालासिंह डिप्टी-कलक्टरी छोड़कर जाति-सेवा में रत हुए, डाक्टर इर्फ़ानअली ने वकालत छोड़ दी और डा० प्रियानाथ एक सर्वप्रिय डाक्टर हो गये ; यहाँ तक कि पतित

दयाशंकर का भी उन्होंने अपनी शुश्रूषा से उद्धार कर दिया। प्रेमशंकर का जीवन एक प्रकार श्रद्धा के बिना अपूर्ण-सा था; सो श्रद्धा और प्रेम का ज्वाला द्वारा सम्मिलन भी हो गया!

और भी पात्र हैं। गाँव के अत्याचारी अँगरेज नहीं हैं। मनोहर और सुक्खू को गौसखाँ तथा साहबों के अहलकारों से ही शिकायत है। ज्वालासिंह न्याय करने का प्रयत्न करते हैं; परंतु धोखा खाते हैं, और उन्हें इस्तीफा देना पड़ता है। गौसखाँ का भी वही अंत हुआ जो अत्याचारी जिलेदारों का होता है। मनोहर की उद्दंडता का भी फल उसे मिल गया। सुक्खू को मनोहर के खेतों की बड़ी लालसा थी; परंतु गाँव पर विपत्ति आने पर वह उनका नेता हो गया। कादिर मियाँ गाँव के सच्चे सेवक बने रहे। दुखरन भगत पर विपत्ति का दूसरा ही असर हुआ। निराशा ने उसके हृदय में जन्म भर की संचित शालिग्राम के प्रति श्रद्धा उखाड़कर फेंक दी। बलराज गाँव के भविष्य का युवक है। उसमें जो स्वतंत्रता है, वह किसी में नहीं; क्योंकि उसके पास जो परचा आता है उसमें लिखा है कि रूस में किसानों का राज्य है। यदि परिस्थितियाँ प्रतिकूल हुईं, तो वह भविष्य का बोलशेविक होगा। मनोहर की पतिव्रता गृहिणी विलासी इनके झगड़ों को शांत करने का प्रयत्न करती रहती है; पर गाँव में विप्लव उसी के द्वारा होता है। न उस गाँव की द्रौपदी पर गौसखाँ का अत्याचार होता, न विद्वेष की आग इतनी भड़कती! इस विप्लव के शांत होने पर जो बचते हैं, वे उपसंहार में भावी गवर्नर हिज एक्सिलेंसी गुरुदत्त राय चौधरी और भावी जमींदार मायाशंकर के समय में रामराज्य का सुख-भोग करते हुए दर्शन देते हैं। उपन्यास-लेखक के साथ हम भी कहते हैं—"तथास्तु"।

कथा-प्रसंग के परे और भी पात्र हैं। राय कमलानंद का

चित्र विशेषकर भावमय है। मालूम नहीं कि यह उपन्यास-लेखक के मस्तिष्क से निकले हैं या इनकी जोड़ के इस संसार में कोई हैं भी। इनका जीवन सांसारिक विलास में मग्न है। पर इससे इनके पौरुष में कोई अंतर नहीं आता। इनकी भोग-क्रियाएँ इसीलिए थीं कि जीवन की चरम सीमा तक सुख भोग कर सकें। इनका आत्मबल इतना प्रखर था कि ज्ञानशंकर भी उनके सामने नहीं ठहर सका। परंतु जीवन का आदर्श त्रुटियों से भरा था। ज्ञानशंकर की कुटिलता ने इन्हें भी सच्चा मार्ग दिखा दिया, जिसकी झलक हमें उपन्यास के अंत में देखने को मिलती है।

विद्या और श्रद्धा के चित्र भी उल्लेखनीय हैं। दोनों साधारण हिंदू-रमणियाँ हैं। विद्या के चरित्र में कोई विशेषता नहीं है। क्योंकि उसके सामने कोई जटिल समस्या ही कभी नहीं आयी और जब उसपर कष्ट पड़ता है, तो लेखक उसे बर्दाश्त करने योग्य न समझकर उसका अंत ही कर देता है। कुटिल ज्ञानशंकर की पतिव्रता पत्नी का यही अंत होना था। श्रद्धा के सामने पहले ही से धर्म और प्रेम की समस्या मौजूद है; पर प्रेमशंकर के चरित्र का अंत में उसपर इतना प्रभाव पड़ा कि धर्म की शृंखलाएँ ढीली पड़ गयीं। लेखक ने श्रद्धा को प्रेम से मिलाकर दोनों का जीवन सार्थक कर दिया।

पात्रों का अवलोकन तो थोड़ा-बहुत हो चुका। अब लेख-शैली पर विचार कीजिये। प्रेमचंदजी की यह पुरानी आदत है कि भाषा हिंदी ही रहती है; पर शब्दों का रूप पात्रानुसार बदलता रहता है। 'सेवासदन' में मुसलमानों की दलील सलीस उर्दू में है और अंग्रेजी पढ़े-लिखे पात्रों की भाषा में अंग्रेजी की खिचड़ी है। 'प्रेमाश्रम' में देहाती पात्र भी हैं, इसलिये उनके काम में आनेवाले शब्द भी वैसे ही हैं। रिश्वत, सरबस, मुदा, मसक्कत,

मूरख, सहूर, अचरज, कागद, ये सब दिहातियों के ही शब्द हैं। भाषा सिर्फ करतार की बिगड़ गयी है। वह ठेठ गँवारू है। और जितने दिहाती हैं, उनकी भाषा में पूर्वोक्त प्रकार के शब्द आने से लालित्य बढ़ ही गया है। विशुद्ध भाषा के पक्षपाती चाहे नाक-भौं सिकोड़ें; परंतु हमारी समझ में इससे कोई हर्ज नहीं, यदि पात्रों की भाषा में उनके व्यवहार में आनेवाले ही शब्द रक्खे जायँ। व्याकरण की टाँग तोड़ने के हम भी विरुद्ध हैं। हम यह नहीं चाहते कि बंगाली पात्र की भाषा में लिंग की गलतियाँ की जायँ और अंग्रेज की जबान में तवर्ग के शब्द ही न निकलें; पर यदि पात्रानुसार दो-चार शब्दों के गढ़ देने से उसका अस्तित्व प्रकट या सजीव किया जा सके, तो कोई हानि नहीं। ऐसी दशा में लेखक भाषा को बिगाड़ने का दोषी नहीं ठहराया जा सकता। इन शब्दों ने दिहातियों के वार्त्तालाप को स्वाभाविक बना दिया है; उसमें जान डाल दी है। इनसे भाषा को कोई क्षति नहीं पहुँचती।

प्रेमचंदजी ने अपनी लेख-शैली में "इनवर्टेड कामाज" का प्रयोग न करके प्राचीन परिपाटी का ही अनुसरण किया है। पुरानी हिंदी में इनवर्टेड कामाज नहीं थे। इधर जब से अंग्रेजी का हिंदी पर प्रभाव पड़ा, फुलस्टाप को छोड़कर और सभी चिह्नों ने हिंदी पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। ये आगंतुक—इनवर्टेड कामाज हिंदी में बहुत खलते थे। लेखक ने इनका बहिष्कार ही कर दिया है। वार्त्तालाप में पात्र का नाम और उसके वाक्य—बस कामा निकल गया। कोई आंतरिक विचार हुए या कोई लंबी बातचीत हुई, तो इसकी भी आवश्यकता नहीं। लेखक और पात्र दोनों एक ही तरंग में एक दूसरे से लड़ते हुए बहते चले जाते हैं।

अब मनोविकार के चित्र तथा विचित्र उपमाएँ देखिये। वे उपन्यास-धारा की तरंगों पर कमल के फूलों या लेखक के अर्पण

किये दीपकों की तरह दर्शन देते चले जाते हैं। 'सेवासदन' लेखक के खजाने को खाली नहीं कर सका। 'प्रेमाश्रम' की उक्तियाँ वैसी ही नवीन और हृदयग्राही हैं, जैसी कि पहले उपन्यास की।

मनोविकार-चित्रण ने लेखक की बात रख ली है। "मानव-चरित्र न बिलकुल श्यामल होता है न श्वेत। उसमें दोनों रंगों का विचित्र संमिश्रण होता है।" प्रेमशंकर को अपनी जाति-सेवा में भ्रातृ-विद्वेष की झलक मालूम पड़ती है। ज्ञानशंकर को अंत में अपनी स्वार्थपरता का अनुभव होता है। राय कमलानंद को सांसारिक आनंद में रत रहने का फल भोगना पड़ता है। केवल विद्या और कादर मियाँ के चरित्र निर्मल हैं; और यह शायद इसलिये कि लेखक ने उनपर अधिक प्रकाश नहीं डाला। इस चित्रण-कौशल का यह फल है कि किसी पात्र से हम घृणा नहीं करते और न किसी को आदर्श ही मानते हैं। धर्म और अर्थ में हर जगह क्लेश है।

जहाँ इतने गुण दिखाये गये हैं, वहाँ दोष भी दिखाना आवश्यक है। उपन्यास इतना बड़ा है, परंतु कोई सूची नहीं। अध्यायों के सिर्फ नंबर दिये हुए हैं। यदि शीर्षक भी होते तो पाठकों को अधिक सुभीता रहता। क्लिष्ट उर्दू के अर्थ तथा दिहाती हिंदी शब्दों के शुद्ध रूप भी दे देना अच्छा होता। विशेष कमी यह है कि आजकल की रीति के अनुसार इतने बड़े उपन्यास के लिए एक चित्रकार की सहायता भी परम आवश्यक थी।

हमारे यहाँ अनुवादित उपन्यासों का बाजार गर्म है। हम अंग्रेजी, बंगला, मराठी इत्यादि भाषाओं का बहुत कुछ उधार खाये बैठे हैं। क्या यह संभव नहीं कि यह उपन्यास हिंदी-संसार की तरफ से इन भाषाओं को भी भेंट किया जाय?

—कालिदास कपूर

रंगभूमि

प्रेमचंदजी की 'रंगभूमि' की इतनी आलोचनाओं के साथ एक और आलोचना क्यों निकले ? धृष्टता के लिए क्षमा-प्रार्थना है। प्रेमचंदजी के अब तक तीन उपन्यास निकल चुके हैं। इसलिए हमें अब 'रंगभूमि' के पात्रों की विशेष व्याख्या नहीं करनी है। परंतु उन गहन समस्याओं पर विचार करना है जिन-पर लेखक ने औपन्यासिक कला की आड़ में कुछ प्रकाश डाला है। 'रंगभूमि' तक पहुँचकर लेखक की शैली और कला परिपक्व हो गयी है। इस शैली और कला की जाँच करनी है। फिर यह भी अनुमान करना है कि आधुनिक साहित्य में और भविष्य के लिए प्रेमचंदजी के उपन्यास कुछ संदेशा भी देंगे या यह भी अन्य सामयिक साहित्य की भाँति अपना समय बीतने पर अनंत विस्मृति की गोद में लीन हो जायँगे।

यों तो उपन्यास का उद्देश्य साफ प्रकट है—

तू रंगभूमि में आया, दिखलाने अपनी माया,
क्यों धरम-नीति को तोड़े ? भई क्यों रन से मुँह मोड़े ?

प्रेमचंदजी बार बार अपने नायक सूरदास के मुँह से जीवन के इस महत्त्वमय रहस्य का उल्लेख करते हैं। परंतु, इसके परे

एक और समस्या है, जो संसार-मात्र में पारस्परिक कलह और अशांति का कारण हो रही है। वह है प्रचलित पुतलीघर-प्रणाली का दिहात के नैसर्गिक जीवन पर कोप और दोनों के पारस्परिक विरोध में दिहात का जीवन-विनाश और अधर्म, रोग और दुर्व्यसन का प्रचार।

योरप में यह विरोध समाप्त हो चुका। वहाँ पुतलीघर-प्रणाली के सामने दिहाती जीवन का प्राय: अंत हो चुका है। अधर्म, रोग और दुर्व्यसन के परिणामों से योरपीय समाज को बचाने के लिए वहाँ का समस्त चिकित्सा-शास्त्र, ईसाई-धर्म तथा साम्यवाद के सिद्धांत अपने-अपने ढंग से प्रयत्न कर रहे हैं। भारतवर्ष में इस विरोध का प्रारंभ-मात्र हुआ है। 'रंगभूमि' में जॉन सेवक और सूरदास द्वारा इस विरोध की व्याख्या की गयी है। प्रचलित व्यवसाय-प्रणाली का यह उद्देश्य कदापि नहीं है कि सर्वसाधारण को कष्ट हो अथवा उसके द्वारा धर्म तथा ज्ञान का विनाश हो। जॉन सेवक और उनके व्यवसायी भाई यही आशा करते हैं कि देश में कल-कारखानों का प्रचार कर वे उसे समृद्धिशाली और सुखी बना सकेंगे। टेनिसन ने अपने लॉक्सले हॉल (Locksley Hall)* में एक ऐसे व्यावसायिक संगठन का सुख-स्वप्न देखा है जो धर्म और अर्थ—दोनों के अनुकूल है। परंतु ऐसा संगठन कवि के स्वप्न-संसार में ही है; उसके इस मृत्युलोक में कहीं दर्शन नहीं हुए हैं।

---

*There the common sense of most shall
Hold a fretful realm in awe ;
And the kindly earth shall slumber, leapt
In universal law.

यह समस्या क्योंकर हल हो ? उपन्यास-लेखक का यह काम नहीं है। उसने इसपर प्रकाश डाल दिया, यही बहुत है। हाँ, समाज-सुधारकों तथा संपत्तिशास्त्र-वेत्ताओं का यह अवश्य काम है। 'प्रेमाश्रम' में जिस आदर्श ग्राम की प्रेमचंदजी ने झलक दिखाई है वह यथेष्ट नहीं है। शिल्प, वाणिज्य और व्यवसाय की उन्नति करना देश की समृद्धि के लिए आवश्यक है। जिस पुतलीघर-प्रथा का पश्चिम में चलन है उससे देश समृद्धिशाली अवश्य होते हैं, परंतु वास्तविक सुख का ह्रास होता है। जापान में इस पाशविक प्रथा का ज्वलंत परिणाम लोग भुगत रहे हैं। वहाँ का सामाजिक संगठन प्रायः ऐसा ही था जैसा यहाँ है। इस प्रथा ने सामाजिक बंधनों को तोड़ डाला है, जिसके कारण वहाँ सर्वत्र अशांति का साम्राज्य है। क्या धर्म और अर्थ, ईश्वर और माया के बीच समझौते की संभावना नहीं है ?

जिस चरखा-प्रणाली का महात्मा गांधी प्रचार कर रहे हैं, उसके हृदय में इस अशांति की औषधि है। यदि इस प्रचार के साथ राजनीतिक विप्लव का सामंजस्य न होता तो शायद गांधीजी की चरखा-विषयक प्रस्तावना पर संपत्तिशास्त्र-वेत्ताओं का ध्यान आकृष्ट होता और जनता इस प्रस्ताव के वास्तविक आशय को समझकर दिहात में करघे और चरखे चलाकर दिहातियों को कल-कारखानों की हवा से दूर रखती। यदि सरकार और समाज दोनों चाहें तो इस समस्या को हल करने का यों प्रयत्न कर सकते हैं—कारखानों के बनाने की तब तक आज्ञा न दी जाय जब तक मजदूरों को सपरिवार बसाने का कारखानेवाले प्रबंध न कर सकें। बाहर से आये हुए माल पर इतना कर लगाया जाय और दिहातियों के अपने घर के बने हुए कपड़ों को इतनी सहायता दी जाय कि यह कपड़े कारखानों के कपड़ों से सस्ते पड़ें।

दूसरी समस्या जिसका संबंध मनोविज्ञान से है, हमें विनय और सोफी के चरित्र-चित्रण से मिलती है। मनुष्य और स्त्री की प्रेमभावना में क्या अंतर है ? क्या यह सत्य है कि मनुष्य का प्रेमोपासना-मार्ग आदर्श प्रेम के आकाश से लालसा के पाताल तक है ; और स्त्री का उससे उलटा, लालसा के पाताल से आदर्श प्रेम के आकाश तक। यदि ऐसा है तो चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता का अंश अवश्य है। विनय में जो कुछ देश-सेवा का अंकुर है वह उसकी माता जाह्नवी की कृपा से। सोफी के प्रेमपाश में फँस कर उसमें अधर्मता आ जाती है। विनय आदर्श प्रेम से गिर कर इंद्रिय-भोग की लालसा में अपनी आत्मा को हानि पहुँचाता है। सोफ़ी का दूसरा हाल है। वह आदर्शवादिनी है। यों तो वह अबला है, परंतु विनय के प्रति अंकुरित प्रेम उसे कर्मवीरांगना बना देता है। उपन्यास के दूसरे भाग में उसी का राज्य है।

'प्रेमाश्रम' और 'सेवासदन' में गायत्री और सुमन के चरित्र में भेद यही है कि गायत्री आदर्श भक्ति के आकाश से गिर कर लालसा की कंदरा में गिरती है। पर सुमन इसे पार कर सेवा-मार्ग के आदर्श तक पहुँच जाती है। परिस्थितियों के भेद चरित्रों को रंग-बिरंगे भावों में प्रदर्शित करते हैं। परंतु इतना अनुमान किया जा सकता है कि प्रेमचंदजी ने भारतीय स्त्रीत्व तथा मनुष्यत्व का वास्तविक चित्र खींचा है। मनुष्य लालसा और लोभ के वश तो कर्मण्य रहते हैं, पर आदर्श उन्हें अकर्मण्य और आलसी ही कर देता है। स्त्रियाँ भी लालसा और लोभ के पाश में फँस जाती हैं, पर अपना धर्म नहीं खोतीं और मनुष्य की भाँति कठिन समस्या आ पड़ने पर अकर्मण्य नहीं हो जातीं।

हम पहले कहीं कह चुके हैं कि प्रेमचंदजी दिहाती जीवन का करुणामय चित्र खींचने में दक्ष हैं। यदि उनके तीनों उपन्यासों—

'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि'—पर दृष्टि डाली जाय तो हम यह देख सकते हैं कि प्रेमचंदजी का प्रेम शहर से दिहात की ओर झुकता जा रहा है। 'सेवासदन' काशी की गंदी गलियों और दालमंडी की दूषित वायु से घिरा हुआ है। कहीं अंत में गंगा पार कर हमें सेवासदन के नैसर्गिक ग्रामीण जीवन की झलक मिलती है।

'प्रेमाश्रम' में प्रेमचंदजी ने 'सेवासदन' की भाँति एक आदर्श ग्राम की सृष्टि की है। पर साथ ही वास्तविक लखनपुर की भी पूरी व्याख्या की है। 'रंगभूमि' का पाँड़ेपुर 'प्रेमाश्रम' का लखनपुर है। वही साधारणतः लोभ और पारस्परिक कलह, पर कष्ट के समय निःस्वार्थ सेवा और पारस्परिक सहानुभूति। 'प्रेमाश्रम' में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि इस भारतीय ग्राम को हम क्योंकर जमींदार-द्वारा आदर्शमय बना सकते हैं; और 'रंगभूमि' में वह हृदय-विदारक दृश्य है जिसका अभिनय समस्त संसार में हो रहा है। कल और कारखाने किस प्रकार इस ग्राम का विनाश करते हैं और उसके साथ ही अधर्म का प्रचार बढ़ाते हैं, इसकी सूरदास ने कारखाने बनने की प्रस्तावना पर पहले से ही सूचना दे दी थी। "सरकार बहुत ठीक कहते हैं, मुहल्ले की रौनक जरूर बढ़ जायगी, रोजगारी लोगों को फायदा भी खूब होगा; लेकिन जहाँ यह रौनक बढ़ेगी, वहाँ ताड़ी-शराब का भी तो प्रचार बढ़ जायगा, कसबियाँ भी तो आकर बस जायँगी, परदेशी आदमी हमारी बहू-बेटियों को घूरेंगे, कितना अधर्म होगा! दिहात के किसान अपना काम छोड़कर मजूरी के लालच से दौड़ेंगे, यहाँ बुरी-बुरी बातें सीखेंगे और अपने बुरे आचरण अपने गाँवों में फैलायेंगे; दिहातों की लड़कियाँ-बहुएँ मजूरी करने आयेंगी, और यहाँ पैसे के

लोभ में अपना धरम बिगाड़ेंगी । यही रौनक शहरों में है। वही रौनक यहाँ हो जायगी।" बजरंगी और जगधर के मकान मिट गये, सूरदास को झोपड़ी के लिये सत्याग्रह करना पड़ा। परंतु यह दृश्य उतने कष्टमय नहीं हैं जितना कि वह जिसमें दिहात के नवयुवक घीसू और विद्याधर का नैतिक पतन होता है। ठीक ही है "धन का देवता बिना आत्मा का बलिदान पाये प्रसन्न नहीं होता"। 'प्रेमाश्रम' में वास्तविक ग्राम और आदर्श ग्राम की तुलना की गयी है। इस उपन्यास पर दिहात के जीवन का ही साम्राज्य है। नायक और नायिकायें शहर के हैं, पर वे दिहात ही पर अपनी जीविका के लिए निर्भर हैं। 'रंगभूमि' में दिहाती जीवन के विनाश का करुणामय दृश्य है। विस्तार के कारण इसका क्षेत्र काशी से उदयपुर तक है। बहुत-से पात्र हैं—देशी और विदेशी, दिहाती और शहरुए—पर नायक सूरदास है और उसके ही चरित्र में दिहात के जीवन का चित्र है। दिहातियों की सरलता, उनकी धर्मभीरुता, उनका साहस, उनकी सहनशक्ति, उनकी अपरिवर्तनमय प्रकृति, उनके घरेलू झगड़े, उनका संगठन और उनकी नेतृत्व-शक्ति—इन सब रंगों का सूरदास के चित्र में कौशलपूर्ण संमिश्रण है।

'सेवासदन' में दिहात के उदय, 'प्रेमाश्रम' में उसके मध्याह्न और 'रंगभूमि' में उसके अस्त होने का दृश्य है। प्रथम उपन्यास में आशा और निराशा दोनों का मेल, और तीसरे में अंधकार और निराशा। हमारे जीवन-स्रोत में—और उपन्यास-लेखक के जीवन-स्रोत में भी—इसी प्रकार भावों का परिवर्तन होता रहता है। यदि यह सच है तो इन उपन्यासों को देखकर ही हम बता सकते हैं कि कौन किसके पश्चात् लिखे गये हैं। 'रंगभूमि' में करुणा की पराकाष्ठा है। जहाँ कहीं हास्य है वह भी करुण-रस की शोभा

बढ़ाने के लिये। उदाहरणार्थ विनय को माता का पत्र मिला। आशय यह था कि तुम कर्तव्यविमुख हो गये हो, मैं तुम्हारा मुख नहीं देखना चाहती। विनय को अपनी माता की आदर्शवादिता पर गर्व हुआ, मन में कहने लगा, "देवी! मैं स्वयं अपने को तुम्हारा पुत्र कहते हुए लज्जित हूँ।...संभव है अंतिम समय तुम्हारा पवित्र आशीर्वाद पा जाऊँ।...विनय ने बाहर की तरफ देखा। सूर्यदेव किसी लज्जित प्राणी की भाँति अपना कांतिहीन मुख पर्वतों की आड़ में छिपा चुके थे। नायकराम पल्थी मारे भाँग घोट रहे थे। यह काम वह सेवकों से नहीं लेते थे। कहते कि यह भी एक विद्या है, कोई हल्दी-मसाला तो है नहीं कि जो चाहे पीस दे। इसमें बुद्धि खर्च करनी पड़ती है, तब जाकर बूटी बनती है।"

प्रेमचंदजी के चरित्र-चित्रण में एक दोष है, जिसका उल्लेख करना आवश्यक है। आपको जब पात्रों की आवश्यकता नहीं रहती, जब उनमें रंग भरते-भरते आप थक जाते हैं, तब झट उनका गला घोट डालते हैं। 'सेवासदन' में कृष्णचंद्र नदी में डूब कर आत्म-हत्या करता है, 'प्रेमाश्रम' में गायत्री पहाड़ से गिरकर प्राण देती है, और 'रंगभूमि' में विनय पिस्तौल-द्वारा अपनी हत्या करता है।

हमें यह ढंग दोषपूर्ण मालूम होता है। कुछ दार्शनिकों ने आत्महत्या की सिफारिश की है। कवि भी कभी-कभी दुःख से छुटकारा पाने के लिये अपने पात्रों को आत्महत्या की शरण देते हैं। पर आत्महत्या की नीति तथा धर्मशास्त्र दोनों में निषेध है और धर्म और नीति दोनों की अवहेलना करना न कवि के लिये योग्य है, न उपन्यास-लेखक के लिये। उपन्यास-लेखक को भी कवि की भाँति अपनी कला में निरंकुशता का अधिकार प्राप्त है। पर इतना नहीं कि जिस कर्म का शास्त्र तथा नीति में निषेध

हो उसका लेखक-द्वारा सम्मान किया जाय । जहाँ तक हमारा अनुमान है, प्राचीन ग्रंथकारों ने इस प्रकार शास्त्रीय आज्ञाओं की अवहेलना नहीं की है ।

परंतु इतना होते हुए भी प्रेमचंदजी के उपन्यासों का महत्त्व कम नहीं होता । हम हेमचंदजी जोशी की प्रेमचंद की प्रत्यालोचनाओं से सहमत नहीं हैं। यह उपन्यास क्षणभंगुर नहीं हैं । हिंदी के दुर्भाग्य से इनका अनुवाद अभी तक किसी पाश्चात्य भाषा में नहीं हुआ है । यदि कभी हो, और योरप के विद्वान् प्रेमचंद की रवींद्रनाथ ठाकुर और टॉल्स्टॉय से तुलना करें तब हम भी समझने लगेंगे कि ये उपन्यास भी कुछ महत्त्व रखते हैं । प्रेमचंद का यथासमय भारतीय साहित्य में वही सम्मान होगा जो डिकेंस और टॉल्स्टॉय को योरपीय साहित्य में प्राप्त है । भारत का हृदय कलकत्ते की गलियों में नहीं है, न वह शिक्षित जनों की अट्टालिकाओं में है । उसका हृदय दिहात में है, किसानों के टूटे-फूटे झोपड़ों में है । हरे-भरे खेतों को देखकर उसे शांति मिलती है । अनावृष्टि से वह सूख जाता है । उस हृदय का मार्मिक चित्र जिसने खींचा है वह देश भर का धन्यवादपात्र है । अभी भारतीय किसानों में शिक्षा का अभाव है । अभी उन्हें नहीं मालूम है कि उन्हीं के समान किसी सरल-प्रकृति तथा अस्वस्थ व्यक्ति ने शारीरिक और मानसिक वेदनाएँ झेलते हुए उनके दुःखों और आशाओं की कथा कही है । जब वे शिक्षित हो जायँगे, जब उनकी आँखें खुलेंगी, और अपने पूर्वजों का चित्र जब वे इन उपन्यासों में देखेंगे, तब उनके विधाता की पूजा होगी । हाँ, अभी कुछ समय तक नहीं ।

—कालिदास कपूर

रंगभूमि से कायाकल्प तक

प्रेमचंद ने प्रेमाश्रम से आगे रंगभूमि लिखी।

रंगभूमि के नाम में Vanity Fare से कुछ समानता है; पर प्रेमचंदजी की रंगभूमि Vanity अहं का मेला नहीं, यह वास्तविक रंगभूमि है जिसमें जोवन का एक महान् नाटक खेला गया है। वह रंगभूमि है जिसका खिलाड़ी बार-बार कहता है, खेल को खेल की भाँति खेलो। जिसने खेल को खेल की भाँति नहीं खेला, उसीको जक उठानी पड़ी। कुँवर महेंद्रसिंह वैसा नहीं खेल सके, तभी वे मूर्ति को तोड़ने गये और उस जड़ मूर्ति से दबकर मर गये। इस रंगभूमि में पात्रों की भाँति रूप भरकर आये हो—वैसे ही पार्ट अदा करो, और पार्ट अदा करने के बाद फिर वही समत्व और अपनत्व प्राप्त कर लो। सूरदास इसका पक्का खिलाड़ी है। यह सूरदास प्रेमचंद की नयी सृष्टि है। और जैसा प्रेमचंदजी ने लिखा है सूरदास का "बीजांकुर हमें एक अंधे भिखारी से मिला जो हमारे गाँव में रहता था।" इस अंधे भिखारी में लेखक ने जो शक्ति संयोजित कर दी, वह अभूतपूर्व है।

उनके प्रयोगात्मक चरित्रों का रंगभूमि में अभाव नहीं हुआ। जहाँ युवक है, वहाँ प्रयोगों का अभाव कहाँ ? यहाँ विनय है, पर प्रेमाश्रम में जहाँ प्रेमशंकर के रूप में वह श्रद्धा का पति था, यहाँ

विनय-रूप में श्रद्धा-जैसी व्रतशील जाह्नवी माता का वह पुत्र है। श्रद्धा एक संयम के घेरे से घिरकर अपने अंदर ही रो रही थी। जाह्नवी में जैसे मातृत्व का उफान है। वह अपने अणु-अणु विकसित देखना चाहती है। उसके उत्साह और अभिव्यक्ति के भाव में श्रद्धा के अटल व्रत की दृढ़ता उपस्थित है। पर उसका क्षेत्र समाज और उसकी मर्यादाएँ नहीं। उसकी संकल्पशीलता पुत्र को अधिकाधिक विसर्जित कर देने के ही लिये है, और उसका यह रूप भी उसी समय प्रकट होता है जब विनय अपना वितरण—त्याग और परोपकार जिसका दूसरा नाम है, उसे रोककर वह संकोच में पड़ जाता है; स्वार्थ—भोग के नाम से जिसे पुकारते हैं, उसका शिकार हो जाता है। जाह्नवी पुत्र को खो देने को तैयार है, पर उसे कायर बनते, कर्तव्य से च्युत होते नहीं देख सकती। पर प्रेम भी कोई चीज होती है; उसे अलग अपने पैरों पर खड़े होते सबसे पहले प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' में ही देखा है। 'सेवासदन' में सदन और सुमन का प्रेम प्रेम नहीं हो पाया, रसिकता ही बन पाया—वेश्या से संबंध होने के कारण लंपटता तक पहुँचता हुआ कहा जा सकता है। और जब तक कि वह प्रेम के यथार्थ में परिणति पाये वैवाहिक संबंध के आकर्षण में उसका पर्यवसान हो गया। 'प्रेमाश्रम' में मानव का मानव के प्रति जो प्रेम है, वह प्रेम नाम से तो पुकारा जाता है; पर वह सहृदयता का रूपांतर—कुछ आर्द्र रूपमात्र है—वह वह प्रेम नहीं, जहाँ कर्तव्य, ज्ञान, चेष्टा अनंत विराम ग्रहण करती हैं, जहाँ न पाप न पुण्य—एक अद्भुत ही लोक है जो, जहाँ मानव को अपना मानव विस्मृत हो जाता है और एक दिव्य व्यापारमात्र रह जाता है। जहाँ इस प्रेम का कुछ आभास दिया गया है, वहाँ छल के आधार पर वह खड़ा है—अतः वह इस नाम का अनर्थ करनेवाला है। 'प्रेमाश्र

में वैवाहिक बंधन को आदर न देने का एक भाव तो है, ज्ञानशंकर विद्या की मृत्यु पर उसका दाह तक नहीं करते, पर स्वतंत्रप्रेम का रूप वहाँ नहीं दे सके। गाँव की विधवा से उनका जो लगाव हुआ, उसमें हृदय का पुट मिला तो सही, पर अन्य स्वार्थों के समारोह में वह प्रबल हो ही न सका—'रंगभूमि' में ऐसी बात नहीं।

यहाँ पढ़ा-लिखा युवक विनय है, और है स्वतंत्र वातावरण में पली सोफी। दोनों में पहले सहानुभूति, फिर प्रेम बढ़ जाता है। सोफी ईसाई है, विनय हिंदू और जाह्नवी-जैसी मा का पुत्र, बचते-बचाते भी दोनों एक दूसरे पर समर्पित हो जाते हैं। सोफी विनय के लिये वह सब कुछ करती है जो कर सकती है। मिस्टर क्लार्क से संबंध कर लेने के दिखावे को, घोर आत्म-हनन (self-abnegation) करती हुई स्वीकार करती है। मिसेज क्लार्क नाम से विख्यात होती है। और यह सब लीला विनय के लिये होती है। यह विजातीय प्रेम-संबंध, प्रेम कहलानेवाला प्रेम 'रंगभूमि' में आया है—इसमें वह उन्माद, वह मधुर कल्पना, वह मिठास, वह मान, वह त्याग, वह आत्मदान—वह सब कुछ है, जो प्रेम में हो सकता है—पर यहाँ प्रेम रूप-मात्र के लिये नहीं उनके साथ गुण के लिये भी है। वह प्रेम जहाँ प्रेम के लिये है, वहाँ शक्ति के लिये भी है। वह शक्ति तभी तक है जब तक कि दोनों मिलते नहीं; अभोग्य प्रेम ही शक्ति है। भोग-क्षेत्र में आते ही वह कमजोरी का रूप ग्रहण करने लगता है, और आखिर विनय को अपना बलिदान देकर उस कमजोरी का परिहार—प्रायश्चित्त नहीं—करना पड़ता है।

इस विनय का कार्यक्षेत्र 'सेवा' है, जो उसे राजनीति के क्षेत्र में ले जाती है। इसके सहारे राज्यों की समस्या उठ खड़ी होती है। 'प्रेमाश्रम' के कार्यकर्त्ता गाँव में रह जाते हैं; पर रंगभूमि के

कार्यकर्त्ता राज्यों की ओर भी बढ़ जाते हैं; पर जहाँ पर विनय का बलिदान होता है, वह स्थान एक और नयी बात से बना है। वह है 'फैक्टरी' के लिये जमीन की खरीद—फैक्टरी खोलना अच्छा या अपना पैतृक घर छोड़ देना, उसे बेच देना। मानो लेखक ने भारत की अवस्था का व्यंग्य सामने रख दिया हो। Industrialism हमारे घरों को खरीदे ले रही है, जो हमारे थे, वे हमारे नहीं रहे। उसको इस वाद (इज्म) से बचाओ। इस रक्षा के लिये ही खड़ा होता है 'सूरदास'। लेखक ने सूरदास और महेंद्र को प्रतिद्वंद्वी कर दिया है। कुँवर महेंद्र उस भिखारी से हर जगह हार खाते हैं। पर सूरदास और महेंद्र में कोई मौलिक विरोध नहीं। यह महेंद्र की तितिक्षा, अहंभावना है जो उस विरोध को घातक रूप दे देती है; पर मौलिक विरोध सूरदास के सच्चे सहायक विनय और स्वयं सूरदास में है। विनय की मृत्यु से मानो प्रेमचंदजी 'रंगभूमि' में उस सूत्र को तिरोहित कर देते हैं जो 'सेवासदन' में उठा, 'प्रेमाश्रम' में स्निग्ध बना। उनका अभिप्राय सेवा को असफल सिद्ध करना नहीं; वरन् 'सेवा' की पूर्ण सफलता ही आत्मदान है, ऐसा दिखाते हुए यह दिखाना है कि 'सत्य' भी शक्ति रखता है। किसी सत्य का आग्रह बड़ी-बड़ी सेनाओं को स्तब्ध कर सकता है। सत्याग्रह में अंतर गति भले ही हो, बाहरी नहीं। बाहरी गति को अंतर पर बलिदान होने की बात माननी पड़ेगी। विनय बाहरी गति ही है, तभी उसका सूरदास से मौलिक विरोध है। और तभी उसके सामने उसका लय होता है। गति या तो गति है अन्यथा मृत्यु है।

तो 'रंगभूमि' में गति-मात्र को नहीं माना गया, यहाँ 'सत्य' को पहिचानने का यत्न है। वह सत्य अधिकार का सत्य है, और अधिकार वह अधिकार है जो अपना अस्तित्व दूसरों के आक्रमण

में भी रखना चाहता है, जिसमें अर्थ की अपेक्षा भाव, कानून की अपेक्षा नय की प्रबलता है, और 'सत्य' क्योंकि 'सत्य' है, यदि वह कुछ भी न करे, केवल अपने लिये दृढ़ रहे, तो संसार का बल, संघर्ष, कोलाहल सब स्वयं ही अपना घात कर वहाँ भस्मसात् हो जायगा। गति की तरंगें उठेंगी और गिरेंगी, कलुष और मलिनता उसकी ओर अपने चंगुल फैलायेंगी; पर उसके तेज के नीचे दब-कर मर जायेंगी। लिप्सा ज्यों-ज्यों उसकी संपत्ति का हरण करेगी, उसका तेज उद्दीप्त होगा, और वह हीन-सी बनी धर्म और आचार का दिवाला पीट कर, उससे अलग होकर अपना मार्ग-ग्रहण करेगी—पर सत्य की दीप्ति उज्ज्वल-प्रोज्ज्वल प्रोद्भासित ही होगी। सूर के द्वारा वही सत्य ग्रहण हुआ है। विनय का कुटुंब गति के लिये, महेंद्र का कुटुंब उसी सत्य के सहजात कलुष के लिये, सेवकों का कुटुंब लिप्सा के लिये एक आवरण है।

इस उपन्यास में लेखक हिन्दू-मुसलमान के साथ ईसाइयों को भी ले आया है। गाँव है, पर वह मिल के झमेले में फँसकर अपनी उस ग्रामीणता के निकट नहीं रहा है, वह कस्बा हो चला है, धर्म के नाम पर जीनेवाली जाह्नवी है और मरनेवाली मिसेज सेवक। मानव-धर्म और प्रेम का रूप सोफी ने निश्चित किया है। गृह को लेखक ने स्पर्श भर किया है, साधारणतः घर बाहर के लिए लुटा-लुटा फिरा है—और उसी वितरण में लेखक ने सार्थकता पायी है। अध्यात्म ने 'सत्य' के लिए सूरदास का आश्रय लिया है और लेखक इस जीवन के संघर्ष के साथ जिस अंतरतेज को देखता है, उसे उसने उस सत्य में ही मिला दिया है। अतः, पृथक् आध्यात्मिक निरूपण की आवश्यकता नहीं पड़ी—किन्तु, लेखक इस निष्क्रिय सत्य के साथ जो 'अधिकार' से लगा हुआ है अधिक काल तक संतोष नहीं कर सकता। यह 'अधिकार'

क्या यों ही 'अधिकार' के लिए है ? सूर जो अपनी झोपड़ी के लिये अड़ा, उसमें सचाई है और प्रबल सचाई है—वह न होती तो टिकना कठिन था—वह इस अधिकार की सचाई में यदि उतना विराग जितना खिलाड़ी सूरदास में है, और उतना ही राग जितना उसमें है न मिला तो क्या होगा—इस अधिकार को सत्य-रूप देकर हिन्दू-मुसलमान भी तो अलग होते चले जा रहे हैं—अलग होते क्यों चले जा रहे हैं, उन्हें प्रेम की धुरी पर घूमकर साथ आना पड़ेगा और अधिकार-सत्य के लिये कर्म-सत्य मानना पड़ेगा। हमारा अधिकार केवल हमारे कर्म पर है—यह कर्म-भूमि है। यहाँ सूर की आवश्यकता नहीं, वह तो अपनी परिसमाप्ति पा सका, यहाँ विनय जैसे गति-विश्वासी के अवतार की आवश्यकता है, अन्तर यह होना चाहिये कि वह संस्था और सहायता का आश्रय न तके, स्वयं कर्मयोगी बने, तभी वह अमर हो सकता है। अमर विनय का अवतार है ; पर वह प्रेम के जटिल मार्ग में पड़ गया है। विनय और सोफी समानान्तर चलते हैं—विनय के सामने सोफी है, केवल सोफी, दूसरा कोई है ही नहीं—और उससे मिलने में बाधा है धर्म की, जो उसकी माता का सहारा पाकर दोनों के मिलने में एक अनंत अड़चन बन गया है। मातृप्रेम और दाम्पत्य-प्रेम में जहाँ संघर्ष है, वहाँ विनय और सोफी है। इसी प्रेम को लेकर विनय जब अमर बना, तो उसे मा से छुटकारा मिल गया, पर साथ में विवाहित प्रेम पड़ गया—विवाहित प्रेम में प्रेम का स्वरूप क्या है यह लेखक ध्वनित मात्र करता है। वह कहना वस्तुतः यह चाहता है कि इस प्रेम में योग्यता होते हुए भी नव-विवाह-जन्य दायित्वों के कारण स्वतःसिद्ध अधिकार आ जाता है तो वह एक ऐसी निश्चिन्तता पा लेता है कि नव-विकास के साथ चलने में कठिनाई उपस्थित करे। वह

हृदयों में से आतुरता दूर कर देता है, पिपासा के लिये उसमें स्थान नहीं—और कहीं किसी हृदय में यह अतृप्ति जागृत हो जाय तो वहाँ विभ्रम ही उपस्थित होता है। अमर में अतृप्ति है। वह गति का उपासक है, कर्म को ही अधिकार समझता है—उसके अतिरिक्त उसके पिता, उसकी स्त्री उसके विरुद्ध षड़यंत्र किये हुए हैं, वे कर्म के अधिकार के अतिरिक्त इस अर्थ-अधिकार में भी, अधिकार में ही नहीं, उसके भोग में भी विश्वास करते हैं—तभी अमर को घर छोड़ना पड़ता है। दरिद्रा पठानिन की कन्या 'सकीना' के सौंदर्य पर वह अपना हृदय चढ़ा देता है और धर्म को, धर्म से प्राप्त अपनी पत्नी को लात मार देता है। यह सकीना के कारण होता है, पर उसे ग्रहण नहीं कर सकता—वह अछूतों में जा पहुँचता है। वहाँ मुन्नी है। मुन्नी उसकी ओर आकर्षित होती है—उसके सामने सुखदा पहले से ही है—फिर सकीना मुसलमान और मुन्नी नीच जाति की आकर उसके मार्ग को काटती है। सकीना उसका मार्ग काट जाती है, वह उस मार्ग का काटा जाना स्वयं स्वीकार कर लेता है; क्योंकि जहाँ उसके जीवन के पतंग का डोरा बँधा हुआ है, वहाँ उसका कर्म-सत्य मर रहा है—और तब वहाँ से कटकर उड़े पतंग की भाँति पहाड़ी अछूतों के गाँव में जा पड़ता है। यहाँ मुन्नी, लगता है कि उसका मार्ग काटेगी; पर नहीं, वह समानान्तर चली चलती है, चली चलती है, और उसी कर्म को लेकर चलती है। तब घर में प्रतिक्रिया होती है। कटे पतंग को लूटने के लिये दौड़ मचती है—और भागनेवाले समरकांत, सुखदा, नैना सभी पतंग से आगे निकल जाते हैं, और वे लोग जिन्होंने पतंग पकड़ रखा है, उन भागनेवालों का साहस देख उनका पतंग उन तक पहुँचा देते हैं।

हिंदू-मुसलमान दोनों यहाँ निजी बनकर चले हैं। उनमें

परस्पर सौंदर्य है। घर ने इसमें घर बनने की चेष्टा की; पर उसे बाहर के लिये भागना ही पड़ा। इसमें फिर चुंगी सामने आयी है। अनमेल विवाह तो है पर वह सेवा-सदन की समस्या से भिन्न समस्या के लिये है। वहाँ आर्थिक दुरवस्था का फल था, यहाँ अर्थ-मद का। वहाँ विवाह के साथ सामाजिक पहलू था, वहाँ पाप और पुण्य तथा गृह-मर्यादा जो समाज के कारण ही बनती थी, वह थी; पर यहाँ उसका लेश भी नहीं, सारी समस्या व्यक्ति की है। विवाह में समाज का हाथ हो तो हो, पर वह व्यक्ति का संहार करने के लिये क्यों हो? व्यक्ति यदि समाज का संहार नहीं कर सकेगा—उस समाज का जो इतना मृत हो गया है, या जिसे इतना लकवा मार गया है, उसके सभी अणु-परमाणु जीवन से चैतन्य नहीं मिलते—यदि ऐसे समाज का वह संहार नहीं कर सकेगा, तो स्वयं मिट जायगा। वह विवाह की समस्या है; पर प्रमुखता है अछूत और अछूतोद्धार की। प्रेमचंद ने इस प्रश्न को इस नाम से तो रखा है, उनमें अछूत हैं, पर वे इस समस्या को केवल मानवी समस्या बना गये हैं। कचहरियाँ, अधिकारीवर्ग सब वही चले आ रहे हैं जो 'सेवासदन' में थे—उनकी रूप-रेखा अवश्य उभरती गयी है। उनका अन्तर अवश्य खुलता गया है। गृह-संघर्ष और उपन्यासों से प्रबल है और गृहस्थिरता का कर्म के लिए स्पष्ट बलिदान है। कर्म में लेखक इतना फँस गया है, कि कर्म का वह स्रोत जो अध्यात्म है, जिसे कवि अपने अन्दर निरंतर पोसता रहा है, जिसके लिए उसके हृदय में सदा एक awe (ओज) रहा है—और जिसकी चमत्कारिणी शक्तियों को वह अन्धविश्वास से अलग कर एक वैज्ञानिक सत्य के रूप में समझता रहा है, 'कर्मभूमि' मे सर्वथा उपेक्षित रहा है—और तभी लेखक ने 'कायाकल्प' में उसका सारा उत्तुंग कोट

खड़ा कर दिया है, अपने awe (ओज) को उसने आपके सामने रख दिया है। प्रश्न सेवा, प्रेम, सत्य और कर्म से आगे का ही है, इसमें संदेह नहीं। सेवा में प्रेम, प्रेम में सत्य और सत्य में कर्म, उससे आगे इन सबमें जो 'आत्मत्व' है उसका बोध लेखक को होगा ही। और वह सब में होकर ही रहेगा। 'रंगभूमि' में जो सोफी थी वह कर्मभूमि में 'सक़ीना' और मुन्नी में बँट गयी थी, यहाँ फिर वह 'मनोरमा' में मिल गयी है। विट्ठल, प्रेमशंकर, विनय और अमर के बाद जो हम चक्रधर के पास आते हैं तो हमें स्पष्ट परिलक्षित होता है कि वह इन सबके तत्त्वों को लेकर जैसे पागल हो उठता है और इन सबमें वह अमर की रसिकता के आगे सत्य प्रेम चाहता है। जिस सोफी को उसने 'रंगभूमि' में ठुकराया, जिस सकीना और मुन्नी की 'कर्मभूमि' में उपेक्षा कर गया, उनकी ओर जाकर भी क्या उस मनोरमा को भी ठुकरायेगा। कर्म के लिए अपने सत्य भाव को कुचल डालेगा, और कर्म के लिए कर्म-संगिनी को साथ न लेकर क्या कर्मपूजक को साथ लेगा—वह क्या यह भूल जाना चाहता है कि कर्मपूजक कर्म की पूजा करता और उसके फल को चखता रह जायगा, क्योंकि उसे तुम्हारे अन्तर तक, निकट तक, पहुँचने का सौभाग्य ही नहीं मिल पाया। चक्रधर ने मनोरमा को ठुकराया या कहो उससे वह बचा और भागा कर्मपूजक की ओर, अहल्या को उसने ग्रहण कर लिया। और इसी अंतर की सच्चाई की पीड़ा का रोमांस एक विदग्ध और खंडित जल-प्रवाह की करुण कहानी 'कायाकल्प' में है। तो इस प्रेम को चक्रधर ने ठुकराया—पर एक प्रेम 'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर ने गायत्री से भी तो किया था। वह कपट-नाटक, जिसमें प्रेम के साथ न जाने कितना और क्या कुछ मिला दिया गया—उसका मार्ग-

निर्देष भी तो होना चाहिए। वही प्रेम की चिनगारी लिये गायत्री विधवा 'देवप्रिया' बनकर 'कायाकल्प' में आयी। उसकी अतृप्ति और अतृप्ति ही नहीं, विषाक्त वासना, उस आगे बढ़नेवाले प्रेम को रह-रहकर आदेश देती है, लौटो-लौटो। यह पुनर्जन्म लौटना है, यह कायाकल्प लौटना है, पर लौटा जाय किस लिए? और यदि देवप्रिया और उसके पति, कर्म के बाद बने चक्रधर-जैसे प्रेमयोगी के पुत्र होकर भी इस देवप्रिया या कमला को नहीं समझा सके तो गायत्री किसी का अवतार धारण करे उसका निस्तार नहीं—उसे पा-पाकर खोना होगा—और लौटाना तो यहाँ का नियम ही नहीं, और इस कायाकल्प में जहाँ लेखक ने अपने चिरपोषित awe (ओज) का उद्गार किया है, वह हिन्दू-मुसलमानों को भी लड़ा बैठा है—तुम भाई-भाई लड़ बैठो, असलियत को छोड़कर यदि यही पसंद है तो यही सही। कायाकल्प में और सब जाना-पहचाना है। मनोरमा तो सोफी है ही; वह जो मुन्नी के रूप में आकर श्रद्धा करने लगी सो यहाँ मनोरमा बनकर प्रेम को श्रद्धा में परिणत कर बैठी। सोफी ने तो नाममात्र को क्लार्क से संबंध किया था, पर मनोरमा तो चक्रधर की सहायता को पाकर विवाह कर बैठी। उसे विवाह और प्रेम में कोई विरोध न मिला—'कायाकल्प' एक रूपक है और मानव अपने से बाहर जो अपना रूप देखता है उसकी चाह में ही उसकी भटक है; वह भटक ही 'कायाकल्प' है। जमींदार और मजदूर तथा कृषक, हिंदू और मुसलमान ये सब केवल भूमिका के लिए हैं।

—प्रो० सत्येंद्र

Kanya Lal Bhan

कायाकल्प

प्रेमचंदजी के 'कायाकल्प' को आदि से अंत तक पढ़ा। सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि सभी उपन्यास पढ़े थे। सबका प्रयोजन समझ में आया; परंतु इसका क्या प्रयोजन है, समझ में नहीं आया। एक नये विषय, एक जटिल आध्यात्मिक प्रश्न की, उपन्यास के बहाने, व्याख्या की गयी है। बाकी चरित्र वही हैं जिनका हमें पहले से परिचय था। हैं वे केवल नये रूप में।

प्रेमचंदजी का कोई भी उपन्यास ऐसा नहीं है जिसमें भारतवर्ष के राष्ट्रीय जीवन के दैनिक रूप-रंग के परिवर्त्तन का प्रतिबिंब न पड़ा हो। 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' में नवयुवकों और सेवा-समितियों के आदर्श और कठिनाइयों का परिचय तो 'रंगभूमि' में देहाती जीवन के विप्लव की झलक है, और 'काया-कल्प' में इस जीवन की हिंदू-मुसलिम विरोध की कठिन समस्या पर प्रकाश डाला गया है। इसके परे अन्य विषय पुराने हैं। राजा विशालसिंह के कारिंदे गाँवों पर, देहातियों पर अत्याचार करते हैं तो 'रंगभूमि' में भी उदयपुर राज्य के अंतर्गत अत्याचारियों का प्रबल प्रकोप था। वहाँ विनय पद-दलित प्रजा की तरफ से हिमायत करते थे, यहाँ चक्रधर उनकी ओर से कष्ट सहन करते हैं। विनय जेल गये तो चक्रधर भी जेल जाते हैं। सेवा-मार्ग में

जो कठिनाइयाँ विनय को थीं वही चक्रधर को हैं। वहाँ सोफी का चरित्र प्रेम और आदर्श के संयोग से दिव्य हो गया था, यहाँ मनोरमा का चरित्र आदर्श और विलास-प्रेम की प्रतिद्वंद्विता में रँगीला हो रहा है। दोनों को सेवा-मार्ग पर चलनेवाले युवकों से प्रेम है। दोनों उस प्रेम के लिये धन और ऐश्वर्य के द्वार पर अपना बलिदान करते हैं।

देवप्रिया के जीवन में--चरित्र में, 'कायाकल्प' के नये रंग के कारण, चित्र नया-सा मालूम पड़ता है, परंतु ध्यान से देखिए तो उसमें हमें 'प्रेमाश्रम' की गायत्री की झलक दिखाई देती है—वही वैधव्य, वही विलास-लालसा। भेद यही है कि गायत्री का पतन हो गया और देवप्रिया की विलास-लालसा अतृप्त रही।

कायाकल्प की कहानी संगठित नहीं है। सच पूछिए, तो प्रेमचंदजी के उपन्यासों में से किसी में भी यह गुण मानिए या अवगुण, नहीं है। पर कायाकल्प की कहानी का संगठन रंगभूमि से अच्छा है। उपन्यास का चित्रपट कायाकल्प के चित्र के चारों ओर बना हुआ है। मध्य में देवप्रिया, जिसका सदेह कायाकल्प होता है, और उसका पति है जो हर्षपुर में जन्म लेकर, और फिर अहल्या के कोष से पुनर्जन्म द्वारा अपना कायाकल्प करता है। एक ओर विशालसिंह और उसकी रानियाँ हैं, दूसरी ओर चक्रधर उनके पिता वज्रधर, मनोरमा, उसके पिता हरिसेवकसिंह और उनकी रखेली लौंगी है। तीसरी ओर अहल्या, यशोदा-नंदन और उसका पुत्र शंखधर है। चौथी ओर एक कोने में ख्वाजा महमूद और आगरे का हिंदू-मुसलिम विरोध है।

इस उपन्यास में इतने चित्र हैं, पर मनोरमा और चक्रधर ही के चरित्र-चित्रण में उपन्यासकार ने विशेष कौशल दिखाया है। मालूम होता है, त्याग और प्रेम की पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता के

तमाशे दिखाने में प्रेमचंदजी को विशेष आनंद आता है। उनके प्रत्येक उपन्यास में इसकी बहार है। वही इसमें भी है। परंतु इनके अलावा छोटे पात्रों पर भी उपन्यासकार ने कृपा की है। मुंशी वज्रधर पिछले उपन्यासों में अपना कोई सानी नहीं रखते। उनके दो चित्र यथेष्ट हैं, एक तो उनके फैशन का "अल्प कालीन तहसीलदारी के समय का अल्पाके का चुगा, उसी जमाने की सिर पर मंदील, आँखों में सुरमा और बालों में तेल," दूसरा उनकी कचहरी जानेवाली पोशाक का "देह पर पुरानी अचकन जिसका मैल उसके असली रंग को छिपाए हुए था, नीचे एक पतलून, जो कमरबंद न होने के कारण खिसक कर इतना नीचा हो गया था कि घुटनों के नीचे एक झोल-सा पड़ गया था।" ठाकुर हरिसेवक सिंह की रखेली लौंगी भी एक नई पात्री है। लौंगी के दर्शन हमें उसके पाप की नहीं, उसके मातृत्व स्नेह, उसकी असीम करुणा और त्याग की याद दिलाते हैं। तभी तो उपन्यासकार ने मनोरमा के सामने, आजीवन शिक्षा देने के लिए "लौंगी को देखो" वाक्य टाँग दिये।

परंतु अभी उन दो प्रश्नों का केवल उल्लेख ही किया गया है, जिनके कारण इस उपन्यास की सृष्टि हुई है। इनमें एक प्रश्न है राजनीतिक और दूसरा आध्यात्मिक। इनके अंतर्गत पात्रों के चरित्र-विवरण की कोई आवश्यकता नहीं है। इन सबका एक ही काम है इन प्रश्नों पर प्रकाश डालना।

हिंदू-मुसलिम कलह का राजनीतिक प्रश्न इस समय सारे देश को हिला रहा है। उपन्यास में यह प्रश्न आगरे में गऊ की कुरबानीवाले झगड़े को लेकर उपस्थित किया गया है। परंतु अब गऊ की कुरबानी पीछे रही। उसमें मुसलमानों ने हिंदुओं को चिढ़ाने का यह ढंग निकाला था। अब दूसरी ही बात है। अब

मुसलमानों ही ने अपने चिढ़ाने के लिए यह झगड़ा करना शुरू कर दिया है कि मसजिद के सामने से होकर बाजा बजाते न निकलो। बहस से मतलब नहीं। नजीरें कोई कारगर नहीं। बस, जिद पूरी होनी चाहिए। इधर हिंदुओं ने भी अड़ना शुरू कर दिया। फिर क्या था, जगह-जगह दंगे-फसाद होने लगे, मार-पीट, खून-खच्चर तक नौबत आ गयी। जो देश-नेता समझते थे कि हम स्वराज्य प्राप्त कर लेंगे, वे अब शांत ही हैं। अब तो हिंदुओं को अपने अधिकार की और मुसलमानों को अपने जिद की फिक्र है। स्वराज्य और समाज-सुधार का प्रश्न स्थगित है, और उन्हीं नेताओं की कदर है जो अपने-अपने धर्मावलंबियों की निराधार विद्वेषाग्नि प्रचंड करने में योग दे रहे हैं।

यह प्रश्न क्योंकर हल हो ? क्या समय पर छोड़ देने से ही यह आपसे आप हल हो जायगा ? हिंदू और मुसलमान दोनों समझने लगेंगे कि झगड़ा करने में हम दोनों की हानि है और तब झगड़े की सब सूरतें खत्म हो जायँगी। क्या यह तो न होगा कि समय पर छोड़ देने से यह बीमारी असाध्य हो जायगी ? जब तक फैसला कराने के लिये तीसरा दल मौजूद है, तब तक हम आपस में समझौता ही क्यों करेंगे ? यदि यह सत्य है, तो क्या करना चाहिये ? क्या हिंदुओं का मुसलमानों की जिद को मान लेना ठीक होगा ? या मुसलमानों को अपने व्यक्तित्व से तिलांजलि दे देनी होगी ? कहानी के बहाने उपन्यासकार ने इस उलझन को सुलझाने का प्रयत्न किया है। यशोदानंदन और ख्वाजा महमूद जो सेवा-समिति में एक दूसरे का साथ देते थे–एक दूसरे के दुश्मन हो गये। दोनों के पारस्परिक झगड़े को किसने मिटाया ? चक्रधर ने, एक नवयुवक के त्याग ने, अपने प्राण हथेली पर रखकर। यही इस प्रश्न को सुलझाने का एक ढंग दिखाई देता है। इस

हिंदू-मुसलिम मनोमालिन्य का इलाज देश के नवयुवकों के हाथ में है। यौवन में सहानुभूति है, उसमें आत्म-त्याग का बल है, वह जाति-पाँति के भेद को नहीं समझता। हम देश के यौवन ही से इस मनोमालिन्य को मिटाने की याचना कर सकते हैं। कायस्थ-पाठशाला इलाहाबाद के प्रिंसिपल पियर्स ने इस संबंध में जो महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव किया था, वह विचारणीय है। उनका कथन था कि हिंदू और मुसलमान नवयुवकों का एक सेवा-दल हो। जहाँ कहीं झगड़े की संभावना हो, वहाँ यह सेवा-दल ही आगे बढ़कर काम करे और हिंदू-मुसलमान पक्षपातियों को अपने पारस्परिक भ्रातृभाव से शर्मिंदा करे। अध्यापक-समाज का इस संबंध में भारी उत्तरदायित्व है। वे इस पुनीत-कार्य में सबसे अधिक योग दे सकते हैं। वे ही दिन-प्रति-दिन देश की दोनों जातियों के बीच समानता तथा मैत्री के भावों की पुष्टि कर सकते हैं। इनके बाहर बड़े आदमियों में तो इस वक्त घोर अनर्थ हो रहा है। जिस समय यह लेख लिखा जा रहा है, हिंदुओं के धर्म और मुसलमानों के दीन की आवाज बुलंद है, और पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति के पाठ पढ़ानेवाले एक कोने में मुँह छिपाये बैठे हैं।

दूसरा प्रश्न, जिसपर प्रकाश डाला गया है और जिसके कारण उपन्यास का नामकरण भी हुआ है, आध्यात्मिक है। क्या पूर्व जन्म की स्मृति हमें रह सकती है? क्या अतृप्त वासनाओं ही के कारण पुनर्जन्म होता है? क्या पुनर्जन्म प्राप्त होने पर फिर हम उन्हीं वासनाओं को तृप्त करने का प्रयत्न करते हैं? क्या धीवर-कन्या सत्यवती का अनंत यौवन कवि की कल्पना मात्र है? क्या देवप्रिया का सदेह कायाकल्प विज्ञान और योग के समागम से किसी सुदूर भविष्य में संभव न हो सकेगा? प्रश्न

बड़े जटिल हैं, और जो कुछ प्रकाश उपन्यासकार ने डाला है, वह यथेष्ट नहीं है। उन्होंने महेंद्रकुमार-द्वारा तिब्बती साधु की जो आश्चर्यमयी कहानी सुनाई है, उसमें सत्य का अंश अवश्य है। भारतवर्ष में जिस विषय की चर्चा उसके शास्त्रों में है, उसपर अब पाश्चात्य देशों के विज्ञान का प्रकाश डाला जा रहा है। मृत-देहधारियों की आत्माओं को बुलाना, उनसे बातें करना, उनकी बातें सुनना, उनकी छाया को कैमरे के फोटोग्राफिक प्लेट पर लाना, सब कुछ संभव हो चुका है। पूर्व जन्म की स्मृति के भी उदाहरण अक्सर मिला करते हैं। थैराइड ग्लैंड को बदलकर पश्चिमी वैद्य पुनर्यौवन प्राप्त कराने का बीड़ा उठा रहे हैं। इधर योग-साधना और प्राणायाम के बल पर अनेक चमत्कार प्राप्त करने की बातें सुनाई दे रही हैं।

एक हमारे जाने हुए शिक्षित महोदय योग-साधना करते हैं। वह कुछ दिन हुए, भरतपुर में आये हुए एक साधु के दर्शन करने गये थे। उनकी जबानी मालूम हुआ कि तिब्बत में वे एक प्रयोग-क्रिया करते हैं जिसके द्वारा मनुष्य पुनर्यौवन प्राप्त कर सकता है। मनुष्य प्राणायाम और योग-द्वारा अपने जीवनकाल को बहुत कुछ बढ़ा सकता है। महेंद्रकुमार ने चंद्रलोक की यात्रा करने का विवरण दिया है। यह साधु मंगल-लोक की यात्रा करने का विचार कर रहे हैं। जिस क्रिया द्वारा यह यात्रा हो सकेगी वह तिब्बत तथा हिमालय के अनंत हिम ही में हो सकती है। समाधि लेने पर उनकी आत्मा स्वतंत्र हो जायगी और उनका निर्जीव शरीर हिम-सुरक्षित दबा पड़ा रहेगा। तब तक उनकी आत्मा मंगल-लोक की यात्रा कर और वहाँ किसी प्राणी के शरीर द्वारा अनुभव प्राप्त कर लौट आवेगी और तब वह अपनी समाधि से जागकर अपना अनुभव सुनावेंगे। कायाकल्प की

कथा से मालूम होता है कि योग-साधना के लिए ब्रह्मचर्य और संयम की आवश्यकता है। संयम के एक बार टूटने पर उनका अंत हुआ; फिर पुनर्जन्म होने पर भी उनका संयम के टूटने पर ही अंत हुआ। यही उन साधु का भी कहना था कि अनंत ब्रह्मचर्य और कठिन संयम—योग-साधना की प्रथम सीढ़ियाँ हैं। परंतु इतना ब्रह्मचर्य पालन करके भी कहाँ तक ऐसे आश्चर्यमय कार्य हो सकेंगे, हम नहीं कह सकते। परंतु, अक्सर साधुओं को कुछ दिन के लिए समाधि लगाते हुए तो हमने भी सुना है। क्या आश्चर्य है कि प्राचीन योगशास्त्र और आधुनिक विज्ञान के सहारे वही भविष्य में संभव हो सके जो अभी हमें अगम्य, असंभव मालूम होता है।

प्रेमचंदजी के उपन्यास उनके अवस्था-परिवर्तन की सूचना दे रहे हैं। 'सेवासदन' में दालमंडी का अनुभव प्राप्त कर आपने प्रेमाश्रम और रंगभूमि में सेवा-मार्ग की कठिनाइयाँ झेलीं। अब आप 'कायाकल्प' और आगामी जीवन की फ़िक्र में आध्यात्मिक विषयों की ओर झुक रहे हैं। अब हमें आपके उपन्यासों में उस आध्यात्मिक रहस्य का परिचय प्राप्त करना है, जो राइडर हैगर्ड और कानन-डायल के उपन्यासों से हमें इस समय अंग्रेजी में प्राप्त है। अब शब्दाडंबरों की भरमार नहीं है। अब वर्त्तमान के गहन प्रश्नों की ओर आप केवल एक दृष्टि से देख लेते हैं, उनकी व्याख्या नहीं करते—भविष्य के अंधकार के अंदर घुसकर उसमें से कुछ आध्यात्मिक रत्न खोज निकालना चाहते हैं। यह हमारा अनुमान है; होगा क्या, सो ईश्वर जाने या स्वयं प्रेमचंदजी।

—कालिदास कपूर

गबन

सन् १९३० तक प्रेमचंद कई प्रसिद्ध उपन्यासों की रचना कर चुके थे। साहित्य में उनका पद प्रतिष्ठित हो चुका था। वे उपन्यास-सम्राट् बन चुके थे। साहित्य-प्रेमी और उपन्यासों के पाठक उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ कर रहे थे। इसी समय सन् १९३१ में उन्होंने 'गबन' लिखकर प्रकाशित कराया। इस उपन्यास का संबंध भारत के उस मध्यम वर्ग से है, जो आर्थिक संकट सहकर भी सामाजिक क्षेत्र में अपनी नाक बचाने के लिए ऋण लेने और फलस्वरूप अपना भावी जीवन दुःखमय बनाने पर विवश-सा हो गया है; फैशन का भूत जिसके सर पर सवार होकर तरह-तरह के त्रास देता है और फलस्वरूप जिसका शरीर और मन चिंता से जर्जर हो रहा है। वर्तमान समय की स्थिति ने पैसेवाले को ही सुखी बना रखा है। इसलिए अच्छे और बुरे, उचित और अनुचित किसी भी ढंग से पैसा पैदा करना ही आज हमारा आदर्श हो रहा है। 'गबन' में हम देखते हैं कि ईमानदारी से पैसा पैदा करनेवाले व्यक्ति से उसकी स्त्री भी नाराज है, पुत्र भी नाराज है और पतोहू भी नाराज है। प्रसन्न सब लोग उसीसे हैं जो झूठ बोलकर, चालाकी करके, घूस लेकर अथवा भोले-भाले व्यक्तियों को उल्टे छुरे से मूड़कर अधिक से अधिक धन कमा ला सकता है।

उपन्यास में उक्त निष्कर्ष तक हम परोक्ष रूप से पहुँचते हैं। प्रत्यक्ष कथानक कुछ और संकेत करता है। आभूषण चाहनेवाली एक नवयुवती इसकी नायिका है। बालिकाओं या नवयुवतियों के लिए आभूषणों की यह चाह नितांत स्वाभाविक है। जीवन में किसी वस्तु का अभाव हमें और भी उसकी ओर आकर्षित कर देता है। उपन्यास की नायिका जालपा की भी जड़ाऊ हार की चाह इसीलिए बढ़ गयी कि वह उसे उसकी ससुराल से न चढ़ा। उसका पति रमानाथ शिक्षित है, युवक है, नयी रोशनी का है और सच्चा प्रेमी भी है। अपनी सुंदर स्त्री के सामने अपने घर की दीन दशा कहते तो शरमाता है ही, साथ ही अपने ऐश्वर्य की झूठी कहानी गढ़कर उसे सुनाते भी नहीं हिचकिचाता। नववधू उसकी बातों का विश्वास करके अपनी चाह प्रकट करती है। रमानाथ उसकी इच्छा पूरी करना चाहता है। पर, दफ्तर में वह एक मामूली क्लर्क है; इसलिए अपनी बात रखने, अपनी झूठी शान निभाने के लिए वह उधार गहने लाने पर विवश होता है। उधर उसकी नववधू का साथ एक धनी वकील की स्त्री से हो जाता है। रमानाथ अपनी शान निभाने के विचार से धनियों की तरह अपनी स्त्री का रहना, घूमना, चाय-पानी करना, सब कुछ स्वीकार करता है। अंत में ऋण न दे सकने के कारण उसपर इतने तकाजे होते हैं कि उसका घर से बाहर निकलना मुश्किल हो जाता है। दो-एक ऐसी ही उल्टी-सीधी चालें चलने के बाद आफिस से गबन करके वह घर से भाग खड़ा होता है।

उपन्यास की कथा तो यहाँ से आगे बढ़ती है; परंतु रमानाथ का चरित्र यहीं समाप्त हो जाता है। जब तक हमारा पैर कीचड़ में नहीं पड़ता, हम अपने को उससे दूर रखना चाहते हैं। जब

एक बार हम कीचड़ में फँस जाते हैं तब आगे भी हम उससे घृणा नहीं करते। रमानाथ भी अब बुराई से नहीं डरता। वह झूठ बोल सकता है, भीख माँग सकता है, निरपराधों को फँसा सकता है, वेश्या के हाथ की कठपुतली बनने में उसे संकोच नहीं होता। लेखक ने भी अब उसे सँभालने की आवश्यकता नहीं समझी है। शायद वह चाहता है कि ऐसे युवक की जो बुरी से बुरी दशा हो सकती है, रमानाथ सब भुगत ले।

परंतु जालपा का चरित्र यहीं से उन्नत होता है। 'धीरज, धर्म, मित्र, अरु नारी, आपत्‌काल परखिए चारी।' वाली बात इसी स्थल से जालपा के सामने आती है। पति के घर से भागने के कारण का ज्योंही उसे पता चलता है, वह अपने शृंगार की सभी फैशनवाली चीजें गंगा में प्रवाहित कर देती है। यह हिंदू-नारी की एक झलक मात्र है। वह फैशन की चीजों पर नहीं मरती, अपने पति को चाहती है। आरंभ से उसे गहनों की चाह अवश्य थी; पति का सच्चा प्रेम पाकर वह पूर्णतः संतुष्ट हो गयी थी और यदि रमानाथ ने अपनी कल्पित समृद्धि का अत्यंत आकर्षक चित्र न खींचा होता तो वह गहनों के लिए कदापि उससे आग्रह न करती। गबन में जो कुछ भूल हुई है, उपन्यासकार ने उसका दोषी रामनाथ को ही ठहराया है—उसकी नायिका सर्वथा निर्दोष है। फिर भी वह अपने को ही दोषी समझती है और उसके प्रायश्चित्त के लिए कठोर से कठोर दंड स्वीकार करने को प्रस्तुत है। पति का पता लगाने और पुलिस के कठोर भयंकर और विषैले पंजों से उसे बचाने के लिए जिन-जिन युक्तियों से काम करके अपनी चतुरता का, अपने विवश पति की झूठी गवाही के फलस्वरूप चौपट हुए निर्दोष और कच्चे परिवारों की सभी प्रकार से सेवा करके जिस महान् सहनशीलता का उसने

परिचय दिया है यह प्रेमचंद्र के श्रेष्ठतम उपन्यासों की नायिकाओं के लिये भी दुर्लभ है। जालपा के चरित्र की यही विशेषता है, जिसने 'गबन' को प्रेमचंद के श्रेष्ठ उपन्यासों में उच्च स्थान दिलाया है।

उपन्यास के अन्य पात्रों में जग्गो, रतन, जोहरा, रमेश और देवीदीन हैं। इनके चरित्र का चित्रण भी लेखक ने बड़े परिश्रम से किया है और सभी के विचारों और आदर्शों से हम थोड़ा-बहुत प्रभावित अवश्य होते हैं। परंतु इनमें सबसे प्यारा और आकर्षक चित्र देवीदीन का है। जाति का वह खटिक है। कभी-कभी वह नशा-पानी भी कर लेता है जिसके लिये उसकी स्त्री बराबर ताड़ना दिया करती है। परंतु आतिथ्य सत्कार की वह महान् भावना, जो भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता, समृद्धि तथा ऐश्वर्य की अधिकता की द्योतक है, सरलता और सत्यप्रियता की वह महान् भावना, जो भारतीय जीवन की नैसर्गिकता और पवित्रता की द्योतक है और निस्वार्थ देश-प्रेम की वह महान् भावना, जो मातृभूमि के प्रति स्व-कर्तव्य पालन और ऋण स्वीकृति की द्योतक है, उसके चरित्र को बहुत सुंदर बना देती है।

प्रश्न यह है कि प्रेमचंद के ये पात्र क्या कल्पित हैं? जीवन भर समाज और व्यक्ति का गंभीर अध्ययन करनेवाले प्रेमचंद ने इन पात्रों की सृष्टि अपनी कल्पना द्वारा की है अथवा वे हमारे भारत के ही ऐसे प्राणी हैं जिन्हें हम अपने चारों ओर नित्य प्रति देखते हैं। हमारी सम्मति में रमानाथ, जालपा, देवीर्दीन, जग्गो और रतन नित्य प्रति हमारे संपर्क में आते हैं। वे अपने-अपने वर्ग के प्रतिनिधि हैं। रमानाथ के चरित्र में, संभव है, किसी को अस्वाभाविकता मिले, और यह पूछा जाय कि पढ़ा-लिखा चतुर युवक कैसे एक के बाद दूसरी गल्ती करता और अपने पैर में कुल्हाड़ी मारता चला जाता है। वस्तुतः

उसकी दशा उस भोले-भाले हिरन की सी है जो एक बार जाल में फँसकर जितनी ही उससे अपने छूटने की कोशिश करता है, उतना ही उलझता जाता है।

यही बात कथानक और उन सामयिक समस्याओं के संबंध में कही जा सकती है, जिनके विषय में 'गबन' के लेखक ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विचार किया है। संभव है पुलिस के हथकंडों और कचहरी की कार्रवाई में कुछ बातें घटा-बढ़ाकर कही गयी हों, परंतु लेखक ने इनपर 'लगे हाथ' ही कुछ कह दिया है। वर्तमान समय में मध्यम वर्ग की स्थिति, अतिशय आभूषण-प्रेम, अनमेल विवाह, फैशन का भूत, स्वदेशी आंदोलन आदि गंभीर बातों पर ही लेखक ने कई दृष्टियों से विचार किया है। इनका वर्णन अत्यंत मार्मिक, प्रभावोत्पादक और सजीव है। उपन्यास की सफलता का यही रहस्य है।

प्रेमचंद की भाषा की प्रांजलता, प्रौढ़ता और प्रवाहपूर्णता, शैली की उपयुक्तता, प्रभावोत्पादकता, और यथावसर परिवर्तन-शीलता तथा कथोपकथन की मार्मिकता, स्वाभाविकता और सजीवता के संबंध में हम कुछ कहने की आवश्यकता नहीं समझते। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि'-जैसे उपन्यासों के प्रौढ़, कुशल और सफल लेखक की इन बातों पर स्वतंत्र रूप से ही विचार होना चाहिए।

सारांश यह कि 'गबन' लेखक की सफल रचना है। प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों से इसका कथानक भिन्न है, यद्यपि कहीं-कहीं सामयिक समस्याएँ पूर्व-उपन्यासों की भी अपना ली गयी हैं। विषय की प्रतिपादन-प्रणाली भी इस उपन्यास की भिन्न है। अन्य उपन्यासों में प्रेमचंद समुदाय को लेकर चले हैं और वर्ग की समस्याओं पर विचार किया है। 'गबन' की समस्या

व्यक्तिगत है और एक परिवार तक ही सीमित रहती है। यह ठीक है कि समस्त मध्यम वर्ग आज फैशन, अति आभूषण-प्रेम और आर्थिक संकट से पीड़ित है; परंतु उपन्यास में हम केवल एक परिवार को ही इनका फल भोगते हुए देखते हैं—पूरे परिवार को भी नहीं, केवल एक दंपति को ही। हाँ, जिन बातों को लेकर कथानक का विकास दिखाया गया है, वे सार्वजनीन और सार्वकालीन हैं। लेखक ने मानव-हृदय की अनेक भावनाओं—सुख-लालसा, ऐश्वर्य की चाह, पति-पत्नी-प्रेम आदि का सुंदर विश्लेषण किया है। इसी से 'गबन' को हम हिंदी-उपन्यास की स्थायी चीज समझते हैं।

—प्रेमनारायण टंडन

गोदान

१

साहित्यिक प्रेमचंद का कोई क्रमबद्ध विकास न हुआ। 'सेवा-सदन' और 'सप्तसरोज' की सफलता वह बहुत दिन तक न दुहरा सके। प्रेमचंदजी शायद बेहद भावुक थे। एक बार जिस धार में पड़े, वह बहा ले गयी। उनकी कला का उनके ऊपर कठोर शासन कभी न हुआ, परस्पर क्रीड़ा-सी ही होती रही। 'प्रेमाश्रम' भी सजीव कृति थी, यद्यपि कला के ऊपर सिद्धांत का अधिक आधिपत्य था। 'गोदान' 'प्रेमाश्रम' की और भी याद दिला रहा है। दोनों के वातावरण में कुछ समानता अवश्य है। ग्राम्य जगत, दुखी, दारिद्र्यपूर्ण उदार मध्यवर्ग की ओर आशा भरे नेत्र उठाये। केवल 'गोदान' में बागडोर कला के हाथ में है। 'रंग-भूमि' में प्रेमचंद ने अपनी सामर्थ्य से बाहर कार्य उठाया। सभी उन्नतिशील कलाकार एक बार ऐसा बीड़ा उठाते हैं।

Aldous Huxley का 'Point counter-point' ऐसा ही विफल प्रयास है। सम्पूर्ण जीवन की गुत्थियाँ कोई एक उपन्यास में कैसे सुलझा दे? यदि इस प्रयास में प्रेमचंद सफल हो जाते, तो विश्व-साहित्य के अमर-कलाकारों में उनका नाम अवश्य होता। 'कायाकल्प' में प्रेमचंद की कला ने अधोगति की नीची

सीढ़ी छूई। यद्यपि इसके भी कुछ भागों में वही रस और सजीवता है। फिर प्रेमचंद उठते ही गये। 'निर्मला', 'गबन' और अब 'गोदान'। 'कायाकल्प' के बाद उन्होंने फिर पीछे मुड़कर नहीं देखा।

'गोदान' का स्थान प्रेमचंद की कृतियों में बहुत ऊँचा होगा। अभी हम उसके इतने समीप हैं कि जितनी निष्पक्ष समालोचना उनकी होनी चाहिये, हो नहीं सकती। बड़े विशेषणों से उन्हें लादने से उनकी कुछ सेवा न होगी। काल निर्दय समालोचक है। वह दूध का दूध और पानी का पानी कर देता है।

'गोदान' लिखने में प्रेमचंद की कला पूर्ण रूप से जाग्रत थी। घटनाओं पर, मानव-चरित्र पर, वही अटल अधिकार; भाषा में कुछ और भी रस और कविता का आभास आ गया है। ग्राम्य जीवन के प्रति कुछ अधिक उल्लास दीखा। जैसे हिन्दी की नवीन काव्य-धारा में कुछ वे भी रँग गये हों।

'फागुन अपनी झोली में नवजीवन की विभूति लेकर आ पहुँचा था। आम के पेड़ दोनों हाथों से बौर की सुगन्ध बाँट रहे थे और कोयल आम में छिपी हुई संगीत का गुप्त दान कर रही थी।' (पृष्ठ ३४८) और 'महुए की डालियों पर मैनों की बारात-सी लगी बैठी थी। नीम और सिरस और करौंदे अपनी महक में नशा-सा घोले देते थे।' (पृष्ठ ४०६)

जीवन के हेमन्त में इस वृद्ध साहित्य-सेवी के हृदय में वसंत का यह गान कहाँ से फट निकला?

'गोदान' ग्रामीण जीवन का चित्र है।

प्रेमचंद आरंभ से ही ग्रामीणों के कलाकार रहे हैं। अपने जीवन तक को उन्होंने ग्रामीणता में रँग डाला था। भारत के ग्राम ही देश की प्राचीन विभूति हैं। यहाँ हमारे प्राचीन आदर्श

और संस्कृति सुरक्षित हैं। किन्तु यहाँ कितनी निर्धनता, दुख और पीड़ा है।

प्रेमचंद के दृष्टिकोण पर महात्मा गाँधी का विशेष प्रभाव पड़ा है। कनु देसाई और प्रेमचंद ने पिछले आन्दोलन का वास्तविक रूप कला में अमर किया है।

नगर में विलास है, पाप है—ग्राम में सरलता है, महत्ता है, दुख है। गाँधी की भाँति प्रेमचंद ग्राम की ओर मुख मोड़े भारत के प्राचीन आदर्शों की रक्षा कर रहे हैं।

पीठ पीछे समय सभ्यता, समाज, अपनी अविरल तीव्र गति से निकले जा रहे हैं।

शरद् बाबू ने भी अपने 'पल्ली समाज' में ग्रामीण जीवन का दिग्दर्शन कराया है। उनका निष्कर्ष कुछ और ही है। ग्रामों में अनाचार, पाप, क्रूरता, कुटिलता, धूर्तता भरी पड़ी है। यदि इस मृतक समाज का शीघ्र ही शव-दाह न हुआ, तो इसके विष से चारों ओर ही काल के कीटाणु फैल जायँगे।

शरद् बाबू ने विशेष करके मध्यम श्रेणी के मनुष्यों का वर्णन किया है। प्रेमचंद छोटी जातियों के कवि और शिल्पी हैं। चरित्र-चित्रण में प्रेमचंद कुशल हैं; किंतु शरद् बाबू के पात्र बढ़कर आकाश तक पहुँचते-से लगते हैं। 'गोदान' में उस जोड़ का केवल 'होरी' है।

ग्राम-जीवन के 'गोदान' में अनेक सुंदर चित्र हैं। (पृष्ठ ४९९-५०७)। उपन्यास का आरंभ ही एक ऐसे चित्र से हुआ है। होरी और भोला दोनों ही स्वभाव के सीधे हैं; किंतु दोनों ही एक दूसरे से पराजित होते हैं। पहिला परिच्छेद तो एक सुंदर गल्प है। ग्रामीणों के झगड़े भी खूब होते हैं। (पृष्ठ ६६)। छोटे

कर्मचारी किस प्रकार ग्राम का शासन करते हैं, इसके अगणित उदाहरण हैं।

किंतु, प्रेमचंद का विशेष गुण है, ग्रामीणों की मनोवृत्ति की अचूक समझ। भविष्य में शायद भारतीय ग्रामों का इतिहास उनके उपन्यास और कहानियों से ही पढ़ा जाय।

पाश्चात्य देशों के उपन्यासकार सफल कहानी-लेखक नहीं होते। 'प्लाट' पर उनका कुछ अधिकार ही नहीं होता। डिकेंस, स्कॉट, विक्टर ह्यूगो, बालज़क तक इस विषय में दोषी हैं। उनके उपन्यासों का गौरव उनके पात्र होते हैं। किंतु, कहानी का जन्म पूर्व में ही हुआ। अलिफलैला, पंचरत्न, हितोपदेश, कथा-सरित्सागर।

रवि बाबू और शरद् बाबू दोनों ही चतुर कहानी-लेखक हैं। प्लाट सहज ही ग्रीष्म की नदी की भाँति अविरल धारा से बहता है। इसी प्रकार प्रेमचंद भी कथा के अवयवों को किसी चीनी पहेली की भाँति उलझा-सुलझा सकते हैं।

'गोदान' में भी कथा का स्रोत अविरल है। किसी भी एक घटना में पड़कर प्रेमचंद खो-से जाते हैं। फिर बहुत दूर जाकर कथा का पहला छोर स्मरण कर उठाते हैं।

कभी-कभी भूल भी कर बैठते हैं। 'मिल' जल जाने पर खन्ना तबाह हो गये, यह भूलकर प्रेमचंद लिख जाते हैं कि 'मिल' (पृष्ठ ५४०) में अब भी खन्ना की ही चलती है (पृष्ठ ५१४)। एक बार लिखा है कि सिलिया का बालक दो वर्ष का हो रहा है—सारे ग्राम में दौड़ लगाता है (पृष्ठ ५७६)। चार पृष्ठ बाद ही लिखा है कि वह कुछ-कुछ बैठने लगा था (पृष्ठ ५८३)।

किंतु, ऐसी भूलों का कुछ मूल्य नहीं। शेक्सपियर के नाटक भी अनेक भूलों से भरे पड़े हैं।

कथा के ऊपर प्रेमचंद का पूरा अधिकार है। कभी ग्राम में, कभी नगर में, बड़े-बड़े रईसों में, दीन-दुखियों में उनकी कल्पना स्वच्छंद चक्कर लगाती है।

'गोदान' की कथा का क्या यही अंत है? होरी की जीवन-लीला का अवश्य यह अंत है; किंतु यहीं क्यों, और आगे क्यों नहीं? अभी तो उनकी कल्पना सजीव थी। क्या मृत्यु का संदेश पाकर स्वयं उनकी शक्तियाँ ढीली पड़ने लगी थीं? इसी प्रकार गॉल्सवर्दी ने अपनी मृत्यु के पहिले 'Cover the River लिखा था। चेस्टरटन ने लिखा है कि Pickwick Papers के किसी ने कुछ पृष्ठ फाड़ लिये हैं—ऐसा बालकपन में उनका विश्वास था। अब भी वे उन पृष्ठों को ढूँढ़ रहे हैं। क्या 'गोदान' के पृष्ठ भी काल ने फाड़ लिये? अब भी किसी कल्पना के जग में मेहता, मालती, गोबर, सिलिया आदि क्रीड़ा कर रहे होंगे।

गॉल्सवर्दी ने एक बार ऑक्सफोर्ड में अपना वक्तव्य देते हुए बताया था कि किस प्रकार उनकी कथा आगे बढ़ती है। वे एक आराम कुर्सी पर कागज लेकर बैठते हैं। मुँह में 'पाइप' रखते हैं। फिर उनकी कल्पना जाग्रत हो उठती है। उनका व्यक्तित्व पात्र में खो जाता है। वह सोचते हैं, अब Soames उठता होगा ....।

यही शायद प्रेमचंद की कल्पना की भी गति है। होरी के विचारों में वे तन्मय-से हो जाते हैं (पृष्ठ ५४)। गोबर के मन में सावन के बादलों की भाँति विचार उमड़ पड़ते हैं (पृष्ठ ३७८)।

इस शैली को अब Stream of consciosness कहने लगे हैं। पाश्चात्य उपन्यास-कला में यह कथानक, पात्र आदि सब को ले डूबा है। इसके आचार्य फ्रॉयड आदि हैं।

मनोविज्ञान के प्रेमचंद भी कुशल आचार्य हैं। इस प्रकार की 'टेकनीक' में अच्छे कलाकारों से प्रेमचंद की तुलना हो सकती है।

गोदान एक प्रकार से 'होरी' की जीवन-कथा है। उसकी मृत्यु होते ही इस मंच पर पटाक्षेप हो गया। कथानक तक उसी के चारों ओर लिपटा है—जैसे रेशम के कीड़े के चतुर्दिक रेशम।

'होरी' का स्थान भारतीय साहित्य में ऊँचा होना चाहिये। वह जीता-जागता व्यक्ति है। उसके विषय में प्रेमचंद कह सकते हैं कि 'होरी' पर उनका कुछ वश नहीं, वे स्वयम् उसके वश में हैं।

प्रेमचन्द के पात्र रक्त-मांस के व्यक्ति होते हैं, कठपुतली नहीं। टैसो ने कहा है कि ईश्वर के अतिरिक्त कवि ही विधाता है।

प्रेमचंद के पात्र प्रगतिशील (dynamic) होते हैं ; स्थिर (static) नहीं—मालती, मातादीन, खन्ना। 'बड़े घर की बेटी' लिखते समय जो उनकी रचना में चमत्कार था, वह अभी तक बना था।

शायद मध्यवर्ग और उच्चवर्ग के पात्रों में प्रेमचंद उतनी सफलता न पा सके। इनको हम विलासी और अकर्मण्य ही पाते हैं। स्त्री का मन भी सदैव प्रेमचंद नहीं समझ सकते। प्रेम के दृश्य तो उनके असफल-से हैं। किन्तु नीच ग्रामीण का हृदय भारत में गाँधी को छोड़कर प्रेमचंद के बराबर कौन समझ सका है ?—होरी, भोला, गोबर, धनिया, सिलिया।

होरी में अनेक अवगुण हैं—भारतीय किसान की स्वार्थपरता, रसिकता, धनलिप्सा। अपने भाइयों को धोखा देकर वह बाँस के

रुपये खा जाना चाहता है; किंतु स्वयं धोखा खाता है। यदि प्रेमचंद उसे आदर्श और अवगुण-रहित बना देते तो होरी का कला की दृष्टि से इतना महत्त्व न होता। ऐसे जीव पृथ्वी पर नहीं-से होते।

पहिले परिच्छेद में ही वह भोला को ठगना चाहता है; किंतु उसकी उदारता उसके स्वार्थ पर विजय पा लेती है। जितने त्याग से यह ग्रामीण दंपति मुलिया, सिलिया और पुनिया का निर्वाह करते हैं, वह बड़े-बड़ों को आदर्श स्वरूप है। होरी रसिक भी है, भावुक भी है। सहुआइन से भी छेड़छाड़ कर लेता है। गाय के लिये कितना व्याकुल हो जाता है। ग्राम्य जग में वसंत-श्री देखकर गुनगुना उठता है—

हिया जरत रहत दिन रैन।
आम की डरिया कोयल बोले, तनिक न आवत चैन।

Gray's Elegy का स्मरण हो आता है कि यही व्यक्ति समाज का सहारा पा क्या हो सकते थे! अब तो जीवन की 'हल्दीघाटी' में उन्होंने सब कुछ खोकर अपनी मान-मर्यादा और उदारता बचा ली, यही उनकी भारी विजय है।

दातादीन, नोखेराम, पेशावदी, झिंगुरी आदि गृद्ध की भाँति इस कृषक-समाज के सबको चारों ओर से नोचे खाते हैं।

मातादीन का चरित्र कला की दृष्टि से सुंदर है। यह निर्मम, कठोर स्वार्थी, लोलुप युवक धीमे-धीमे बदलकर सिलिया का तप सफल कर देता है।

गोबर अल्हड़, सीधा नगर के प्रकाश से आकर्षित होकर उधर दौड़ता है; किंतु हाथ कुछ भी नहीं लगता।

ग्राम के स्त्री-समाज के कुछ अच्छे चित्र उतरते हैं,—धनिया, झुनिया, सिलिया। बादाम की भाँति धनिया ऊपर से कठोर, पर

हृदय की कोमल। झुनिया समाज की दुर्व्यवस्था का शिकार। सिलिया जाति की चमार होने पर भी आदर्श सती !

ये ग्राम की स्त्रियाँ लड़ती भी खूब हैं—धनिया और पुनिया का महासमर। फिर धनिया और झुनिया की जब रणचंडी हुँकार कर उत्तेजित होती है तो दारोगाजी तक के देवता भागते हैं।

किंतु, प्रेमचंद के पात्रों के नाम कैसे विचित्र हैं—धनिया, पुनिया, गोबर।

जिस प्रकार झुनिया गोबर से और मालती मेहता से प्रेम (पृ० ७८) की बात करती हैं, वह अस्वाभाविक-सी (पृ० १३०) लगती है। किसी भी देश और समाज में स्त्री इस प्रकार अपना संकोच नहीं त्यागती।

मध्यम वर्ग से प्रेमचन्द की कुछ सहानुभूति नहीं। यहाँ उन्हें खन्ना, तंखा और रायसाहब ही अधिक मिलते हैं—मिर्जा, खुर्देश कम। केवल खुर्देश ही परीक्षा में पूरे उतरते हैं। उनके मन की उदारता और जिन्दादिली कभी नहीं खोती।

मेहता मनुष्य नहीं, आदर्श दानव (monster) है। उनमें कुछ दोष ही नहीं। इसी प्रकार रिचर्डसन ने एक बार सर चार्ल्स ग्रैंडिसन का चरित्र गढ़ा था। अभी तक उसको दानव कहते हैं। मेहता की सृष्टि उस अनुभूति से नहीं हुई, जो होरी और भोला को सजीव बना देती है।

स्त्री-आन्दोलन पर मेहता के विचार रूढ़ि-बद्ध हैं। किन्तु जिस प्रकार वह मालती की परीक्षा लेते हैं, वह अपमानजनक और अमानुषिक है।

मध्यवर्ग की स्त्रियों में मिसेज खन्ना और मालती दो के ही पूरे चरित्र हैं। मिसेज खन्ना प्राचीन आदर्शों पर गढ़ी हैं। धीरे-धीरे मेहता के कारण मालती भी उसी ओर झुक जाती है।

मालती को उत्तेजित करने के लिये कथानक में प्रेमचंद एक जंगली लड़की को लाते हैं। यह झाँकी सुंदर है। यदि फिर भी जंगली लड़की दिखती है, तो पाठक कृतार्थ होते; किंतु प्रेमचंद उसको भूल गये। यह उसी प्रकार की घटना है, जैसे टॉम जोन्स के कथानक में The man on the Hill.

क्या कोई स्त्री ईर्ष्यावश भी ऐसी संकोचरहित बातें कर सकती है, जैसे मालती ने कहीं? (पृ० १३८)। कभी-कभी मन में संदेह उठता है कि प्रेमचंद स्त्री-हृदय समझते भी हैं या नहीं? किंतु, सिलिया और धनिया भी तो उन्हीं की सृष्टि हैं।

इस वातावरण में सोना और रूपा के उपहार के लिये हम प्रेमचंद के कृतज्ञ हैं। इस कलह और पीड़ा-भरे संसार में इस रूप के अनुपम दर्शन से नेत्र कृतार्थ हुए। जगत के कोलाहल से दूर, कल्पना के संसार में ऐसे प्राणी संगीतमय गति से विचरते हैं। इस बाल-सुलभ सरलता और चपलता में सुधा का-सा स्वाद है।

जीवन के प्रति प्रेमचंद का दृष्टिकोण क्या है? जान-बूझकर नहीं; किंतु अनजाने में ही कलाकार अपने युग—कभी-कभी समस्त युगों—और संसार के लिये एक सन्देश लाता है—उसकी कृति में वह निहित होता है।

हमारे समाज की—विशेषकर ग्रामीण समाज की—व्यवस्था गलत है। जो गरीब हैं, वे और भी गरीब होते जा रहे हैं; जो अमीर हैं, वे और भी अमीर। किसान कर्ज के बोझ से पिसा जा रहा है। जो समाज के स्तंभ हैं, उनमें कूट-कूटकर दुराचार, कठोरता, लोभ और कपट भरे हैं। हरिजनों पर समाज का क्रूर शासन है। नगरों में विलास और विनोद है—सौन्दर्य और स्वच्छता नहीं। ग्राम में ही प्रकृति ने पूरा साज सजा है। ग्राम

की ओर लौटो, प्राचीन आदर्शों की ओर लौटो। स्त्री गृह-देवी हो, पुरुष बलवान और निष्ठावान् हों।

गाँधी प्रेमचंद के आचार्य हैं। उनकी फिलॉसफी वास्तविकता से कुछ दूर है। शायद प्रेमचंद ग्राम्य जीवन का उदार चरित्रवान और उदार हृदय कर्मचारियों में देखते हैं। क्या मनुष्य-स्वभाव भी बदल सकता है?

इस रोग की दवा कुछ भी हो, रोग प्रेमचंद खूब समझते हैं। उपचार भी कुछ न कुछ निकलेगा ही। कलाकार के लिए आवश्यक नहीं कि 'अमृतधारा'-जैसी सब रोगों की कोई एक ही दवा वह निकालकर रख दे। वह तो रोग की व्याख्या ही ठीक कर दे।

शायद मेहता का दृष्टिकोण प्रेमचंद का स्वयं अपना भी है। मेहता को वह जितना आदर्श बना सके हैं, बनाया है।

सब कुछ पढ़ चुकने के बाद और आत्मवाद तथा अनात्मवाद की खूब छान-बीन कर लेने पर, वे इसी तत्व पर पहुँच जाते थे कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के बीच में जो सेवा-मार्ग है, चाहे उसे कर्मयोग ही कहो, वही जीवन को सार्थक कर सकता है, वही जीवन को ऊँचा और पवित्र बना सकता है। किसी सर्वज्ञ ईश्वर में उनका विश्वास न था। यद्यपि वह अपनी नास्तिकता को प्रकट न करते थे, इसलिये कि इस विषय में निश्चित रूप से कोई मत स्थिर करना वह अपने लिये असम्भव समझते थे; पर यह धारणा उनके मन में दृढ़ हो गयी थी कि प्राणियों के जन्म-मरण, सुख दुःख, पाप-पुण्य में कोई ईश्वरीय विधान नहीं है। उनका ख्याल था कि मनुष्य ने अपने अहंकार में अपने को इतना महान बना लिया है कि उसके हरएक काम की प्रेरणा ईश्वर की ओर से होती है। इसी तरह वे टिड्डियाँ भी

ईश्वर को उत्तरदायी ठहराती होंगी जो अपने मार्ग में समुद्र आ जाने पर अरबों की संख्या में नष्ट हो जाती हैं। (पृष्ठ ५०५)

प्रेमचंद का उनकी भाषा के कारण सर्वत्र मान हुआ। उनकी भाषा सरल, स्वाभाविक, मुहाविरेदार होती है। ग्राम्य जीवन के वर्णन में उसमें एक नवीन स्फूर्ति आ जाती है। आजकल कुछ कलाकार भाषा में बनावटी सरलता लाने का प्रयत्न करते हैं। कुछ काव्यमय, दुरूह और जटिल तक हो जाते हैं। प्रेमचंद ने अब तक अपना बीच का स्वाभाविक पथ लिया था। किंतु इस बार उनकी भाषा में एक नया रस, लचक और यौवन-सा आ गया है।

एक उदाहरण लीजिये—वैवाहिक जीवन के प्रभात में लालसा अपनी गुलाबी मादकता के साथ उदय होती है और हृदय के सारे आकाश को अपने माधुर्य की सुनहरी किरणों से रंजित कर देती है। फिर मध्याह्न का प्रखर ताप आता है, क्षण क्षण पर बगोले उठते हैं और पृथ्वी काँपने लगती है। लालसा का सुनहला आवरण टूट जाता है और वास्तविकता अपने नग्न रूप में सामने आ खड़ी होती है। उसके बाद विश्राममय संध्या आती है, शीतल और शान्त; जब हम थके हुए पथिकों की भांति दिन भर यात्रा का वृत्तांत कहते हैं और सुनते हैं, तटस्थ भाव से, मानो हम किसी ऊँचे शिखर पर जा बैठे हैं, जहाँ नीचे का जन-रव हम तक नहीं पहुँचता। (पृष्ठ ४६)

संस्कृत में कालिदास की उपमायें प्रसिद्ध हैं। रवि बाबू की कहानी या उपन्यास पढ़ने में उनकी [redacted]ओं का रस कुछ अपूर्व ही मिलता है। उपमा से लेखक की पहुँच और [redacted] का पूरा अन्दाज हो जाता है।

'गोदान' में प्रेमचंद की उपमाएँ और [redacted]क का

एक भारी महत्व हैं। मन में एकदम प्रकाश-सा कर देते हैं और कल्पना को उत्तेजित कर देते हैं।

होरी के घर जब अनाज पहुँचा—'रुकी हुई गाड़ी चल निकली। जल में अवरोध के कारण जो चक्कर था, फेन था, शोर था, गति की तीव्रता थी वह अवरोध के हट जाने से शान्त, मधुर-ध्वनि के साथ सम, धीमी एक-रस धार में बहने लगी।'

(पृष्ठ २४६)

होरी ने सब कुछ खोकर 'हारे हुए महीप की भाँति अपने को इन तीन बीघे खेत के किले में बंद कर लिया था और उसे प्राणों की तरह बचा रहा था।' (पृष्ठ ५८८)

'गोदान' में प्रेमचंद ने उत्कृष्ट कलाकार के सभी गुण दर्शाये हैं। उनकी शैली प्रौढ़ है। पात्र सच्चे और सजीव हैं। ग्राम्य जीवन को वे खूब समझते हैं। उनकी रचना में गंभीरता है, सरसता भी है। 'कायाकल्प' के बाद जो उनका पतन हुआ था, उसका प्रतिकार उन्होंने कर दिया। अपने पुराने गौरवमय स्थान पर अब वे अटल हैं।

हिंदी में कुछ नवयुवक कलाकार दो-एक रूसी उपन्यास पढ़-कर प्रौढ़ साहित्य-सेवियों को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे हैं। यह उचित ही है, उन्नति का लक्षण है; किंतु साहित्य की कसौटियों को भूलना ठीक नहीं।

विदेशों की भाँति यदि हम भी अपने साहित्यिकों का सच्चा आदर करना चाहते हैं, तो निष्पक्ष होकर उनकी समालोचना करनी चाहिये।

—प्रकाशचंद्र गुप्त

२

'गोदान' श्री प्रेमचंदजी का नवीनतम अंतिम उपन्यास है। कहा जाता है कि प्रेमचंदजी सामयिक समस्याओं और आंदोलनों को अपनाकर नेताओं द्वारा परिचालित सुधारों को ही जनता के सम्मुख उपस्थित करते रहे हैं। इस दृष्टि से वे समय समय पर राजनीतिक और सामाजिक नेताओं के एक साहित्यिक अनुयायी रहे। परंतु यह 'गोदान' तो एक और ही वस्तु है। इसमें वे न तो किसी के अनुयायी हैं और न किसी के प्रचारक; बल्कि एक तटस्थ कलाकार हैं।

उन्होंने विभिन्न प्रांतों की आंतरिक स्थितियों और मनोभावों को एक कुशल कलाकार की भाँति ही उपस्थित किया है, किसी पात्र-विशेष के मत को निजी राय देकर उसे एकच्छत्र बनाने का प्रयत्न नहीं किया। इसी लिये, अच्छे से अच्छे पात्र की कमजोरियों और बुरे से बुरे पात्र की अच्छाइयों को प्रकाशित कर उन्होंने पाठकों को अपनी-अपनी समीक्षा और अपनी-अपनी विश्लेषण बुद्धि को जाग्रत करने का अवसर दिया है। बुद्धिभोजी और मनोविनोदी दार्शनिक मेहता, नयी रोशनी में झिलमिलाती हुई, किंतु अन्ततोगत्वा उज्ज्वल दीपशिखा-सी स्थिरलक्ष्य कुमारी मालती, असंयत पूंजीपति किंतु परिस्थितिवश आत्मजागरूक मिस्टर खन्ना, वाणी से उदार किंतु अपनी रईसी आवश्यकताओं के बोझ से दबे हुए आत्मप्रवंचक जमींदार रायसाहब, गिरगीट की तरह रंग बदलनेवाले और रईसों के एजेन्ट मिस्टर तंखा, बेपेंदी के लोटा खद्दरधारी ढोंगी सम्पादक ओंकारनाथ, फक्कड़ और मनमौजी मियाँ खुर्शेद अली, कर्मठ किंतु देहात के अत्याचारों से किंकर्तव्यविमूढ़ देहाती नागरिक गोबर, तथा इन पात्रों

के अन्यान्य सहयोगी इस उपन्यास के सजीव प्राणी हैं। भारतीय जीवन के विस्तृत रंगमंच पर ये विविध प्राणी विविध दिशाओं में जा रहे हैं, उनके पीछे-पीछे एक अदृश्य चित्रकार की भांति प्रेमचंदजी अपने अनुपम कौशल से उनके प्रत्येक पद-निक्षेप का चलचित्र आँकते जा रहे हैं। यदि वे पात्र स्वयं इन चित्रों की एक दृष्टि देख सकें, तो वे प्रेमचंदजी की मर्म-भेदकता के सम्मुख नतमस्तक हो जायँ। इन सम्पूर्ण पात्रों के ऊपर, देहात का वह धर्मभीरु किंतु उद्यमी किसान 'होरी'—जो परिस्थितियों के कठोर से कठोर आघात खाकर भी अंतिम क्षण तक कर्मशील है—एक क्षीण बिन्दु की तरह शोभित है। निर्धन होकर भी वह स्वाभिमानी है, अशिक्षित होकर भी वह आत्मनिष्ठ है, आहत होकर भी एक सहृदय जीवन-यात्री है। इसीलिये वह आद्यंत एक महान् व्यक्तित्व का मनुष्य है।

प्रेमचंदजी ग्राम्य जीवन को चित्रित करने में निपुण हैं। इस उपन्यास में तो यह निपुणता उनकी अन्य सभी कृतियों से आगे है। इसमें ग्राम्य प्रकृति, ग्राम्य जीवन और ग्राम्य मनुष्यों का ऐसी स्वाभाविक और बारीक निगाह से निदर्शन किया गया है कि प्रेमचंदजी की निरीक्षणशक्ति और अनुशीलनशक्ति पर आश्चर्य-मुग्ध हो जाना पड़ता है। अब तक हमलोग ग्रामीण जीवन को एक राष्ट्रीय प्रश्न के रूप में देखते आये हैं, परंतु इस उपन्यास द्वारा हमें ग्रामीण जीवन के मानवी (सामाजिक) मनोविज्ञान पर भी विचार करने का अवसर मिलता है।

'गोदान' में यद्यपि स्थान स्थान पर विचारों की गूढ़ता भी है, तथापि इसमें अनेक सरस प्रसंग भी हैं, जो अपनी रोचकता से गूढ़ता के कठिन भोजन को सुपाच्य बना देते हैं। प्रेमचंदजी ने इसमें देहाती जीवन के अतिरिक्त, नागरिक जीवन के भी जिन

अनेक पात्रों को ग्रहण किया है, उनके अनुरूप इन गूढ़ और रोचक प्रसंगों का समावेश उपयुक्त हो सकता है, किंतु इस उपन्यास का बृहत शरीर जिस देहाती जीवन के मेरुदण्ड पर खड़ा है, उसकी प्रचुरता और विदग्धता को देखते इतर प्रसंग 'क्षेपक' से लगते हैं; इन क्षेपकों के कारण ही उपन्यास स्थूलकाय हो गया है। यदि प्रेमचंद कहानी के किस्सा-कोताह में न पड़कर शरद बाबू की तरह कथा की सांकेतिकता से काम लेते तो 'गोदान' के अभीष्ट वातावरण तथा अभीष्ट पात्र को पाठकों के सम्मुख अधिक सुचारुता से उपस्थित कर सकते थे। यों भीड़ में मिले हुए मनुष्यों में हमें खोजना पड़ता है कि प्रेमचंदजी के इस उपन्यास का संकेत किधर और किनकी ओर है ?

सम्पूर्ण उपन्यास पढ़ जाने पर यह प्रश्न उठता है कि इस उपन्यास का प्रमुख पात्र हम किसे मानें ? जैसा कि कहा जाता है, प्रेमचंदजी एक आदर्शवादी कलाकार हैं ; हम 'गोदान' में किस आदर्श को ढूँढ़ें ? मुझे तो ऐसा लगता है कि प्रेमचंदजी ने 'गोदान' में किसी एक आदर्श तथा एक पात्र को प्रमुखता नहीं दी है, यद्यपि ग्राम्य जीवन के अधिक निकट होने के कारण उन्होंने ग्रामीण वातावरण, उसकी आवश्यकताओं तथा उसके प्रमुख व्यक्तित्व होरी को उन्होंने बड़ी सजीवता से साकार किया है। परंतु जान तो यह पड़ता है कि 'गोदान' में प्रेमचंदजी ने किसी एक व्यक्ति को परिपूर्ण आदर्श के रूप में नहीं, बल्कि कुछ विशिष्ट पात्रों को परिपूर्ण आदर्श के विभिन्न अवयव के रूप में उपस्थित किया है और वे पात्र अपने-अपने क्षेत्र के परिचित आदर्श हैं ; उन्हीं की समष्टि से पूर्ण आदर्श का स्पष्टीकरण होता है। उनका कोई पात्र लोकनायक महापुरुष के रूप में नहीं, बल्कि अनेक पात्र व्यक्तिगत 'मनुष्य' के रूप में हैं। समाज के व्यक्तिगत

सौंदर्य के लिये वे आदर्श हैं। 'गोदान' में जो पात्र जीवन की ऊँची-नीची पगडंडियों पर अन्ततः अकुण्ठित गति से चले जा रहे हैं, वे हैं—होरी, धनिया, मालती, गोविन्दी और खुर्शेदअली। इनके अतिरिक्त शेष पात्र जीवन की घाटी में एक प्रकार से परास्त से हैं। निदान, उक्त पात्र ही अपनी-अपनी दुनिया के आदर्श हैं—होरी किसानों में आदर्श है, धनिया ग्रामीण नारियों में, मालती नवशिक्षिता कुमारियों में, गोविन्दी सम्पन्न गृहिणियों में, मियाँ खुर्शेदअली खुशखर्रम लोगों में। शतदल की भाँति जुड़े हुए इन व्यक्तित्वों की समष्टि में ही प्रेमचंदजी के आदर्श का परिपूर्ण आभास है। अर्थात् इन सब की विशेषताओं को लेकर समाज का सामाजिक जीवन है।

हाँ, उपन्यास समाप्त करते-करते यह जान पड़ता है कि जिस रफ्तार से वह चला है, उसकी अपेक्षा अन्त कुछ शिथिल हो गया है, जैसे तेजी से चलती हुई ट्रेन स्टेशन पर आते-आते धीमी हो जाय; परंतु इससे उपन्यास की मनोरंजकता में अंतर नहीं आने पाया। मनोरंजक तो यह इतना है कि सौ कामों के बीच में भी इसे पढ़ने के लिये उत्सुकता बनी रहती है। और प्रेमचंदजी की मुहावरेदार भाषा का क्या कहना। उनकी स्वच्छ और सुदार भाषा तथा स्थल-स्थल पर मार्मिक सूक्तियाँ हृदय को कुरेद देती हैं।

प्रेमचंदजी के अंतिम उपन्यास का नाम है—'गोदान' और उनकी कहानियों के अंतिम संग्रह का नाम है—कफन। पुस्तकों के इस नामकरण में उस स्वर्गीय साहित्यकार के साहित्यिक जीवन की ट्रेजडी की झलक मिलती है।

प्रेमचंदजी उर्दू के टकसाली साहित्य से निकलकर हिन्दी के विकासोन्मुख साहित्य में आये थे। इसका एक सुपरिणाम यह हुआ कि जिस प्रकार कोई रूढ़ि-बद्ध प्राणी नवीन वातावरण को

अनिवार्यतः अपनाते हुए भी एक मर्यादा का ध्यान रखता है, उसी प्रकार प्रेमचंदजी उर्दू के किस्सा-कोताह से निकलकर आधुनिक युग के कथा-साहित्य से सम्बद्ध हुए थे। पूर्व संस्कार-वश उनमें जो सामाजिक मर्यादा का ध्यान था, उससे उनके कृतित्व में एक गंभीरता आयी; आधुनिक युग के प्रति उसमें जो प्रेरणा थी उससे उनकी कला में एक शक्ति आयी और उर्दू की व्यञ्जना के कारण रोचकता। इस प्रकार प्रेमचंदजी अपने कलाकार रूप में प्राचीनता और नवीनता के संगम थे। हमारे साहित्य में प्राचीनता की अंतिम सीमा वे थे और नवीनता के आदि-निर्देशक भी वे ही थे।

प्रेमचंद जी के लिये केवल राजनीति, केवल समाज, केवल गार्हस्थ्य, वर्तमान युग की प्रगति को देखते हुए अपने में पूर्ण नहीं; ये परस्पर सम्बद्ध होकर ही पूर्ण हैं। किंतु इस त्रिकोण का केंद्र गार्हस्थ्य-जीवन है, समाज और राजनीति का विस्तार इसी केंद्र के लिये है। यह ठेठ भारतीय दृष्टिकोण है। पश्चिम का दृष्टिकोण इससे पृथक है, वहाँ राजनीति ही केंद्रबिंदु है। यह विचार हमारे देश में भी आ गया है। अतएव उसकी गौणता सिद्ध करने के लिये प्रेमचंदजी ने उसे इस त्रिकोण में सम्मिलित किया है। अन्यथा प्रेमचंदजी गार्हस्थ्य और उसके सार्वजनिक रूप (समाज) के ही चित्रक हैं। पश्चिम का सार्वजनिक रूप राजनीति है, तो हमारे यहाँ समाज। दोनों ही सार्वजनिकताएँ गार्हस्थ्य की ओर जाती हैं किंतु राजनीति अशांति लिये हुए और समाज स्नेह-सौहार्द्र लिये हुए। प्रेमचंदजी यही दिखलाना चाहते हैं।

उनके चित्रण को हम एक नकशे के रूप में देख सकते हैं। उसमें मनोवैज्ञानिकता सूक्ष्म संकेतवत है और भाषा प्रसंगानुकूल

विविध वर्णच्छटा लिये हुए। हम कह सकते हैं कि प्रेमचंदजी छाया-चित्रकार नहीं, बल्कि नकशानवीस हैं। साहित्यिकों की अपेक्षा वे जनता के साहित्यकार हैं और जनता को जानने के लिए हमें प्रेमचंदजी के नकशों को देखना ही पड़ेगा।

—शांतिप्रिय द्विवेदी

३

'गोदान' आधुनिक भारतीय जीवन का दर्पण है। यह सामान्य और मध्य-वर्ग की समस्याओं को लेकर चला है। प्रेमचंदजी ग्राम्य जीवन को चित्रित करने में कैसे सिद्धहस्त थे यह किसी से छिपा नहीं है; पर आज के किसान और मजदूर के दरिद्र और परवश जीवन को बिना जमींदार और मिल-मालिक के कारनामों के नहीं समझा जा सकता। पटवारी, सूदखोर, पुलिस जो जमींदार और मिल-मालिक की पंक्ति में ही किसान के जीवन पर जोंक की भाँति काम करते हैं, उनके बिना उसकी दयनीय दशा का ठीक स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। इसी से 'गोदान' की कहानी भी एक किसान की जीवनी को लेकर चली है जिसके चारों ओर मध्य-वर्ग का जीवन भी घूमता है। सामान्य किसानों के सब गुण-अवगुण उसमें विद्यमान हैं। किस प्रकार अपनी परिस्थितियों और संस्कारों से पिसता हुआ वह दरिद्र प्राणी करुण मृत्यु प्राप्त करता है, किस प्रकार सभी का पेट भरता हुआ वह स्वयं अपने जीवन की किसी सामान्य इच्छा को पूर्ण करने में असमर्थ रहता है, यही सब कुछ दिखाना 'गोदान' का लक्ष्य है।

इस उपन्यास का प्रमुख पात्र है होरी। वह भारतीय किसान का प्रतिनिधि है। प्रारंभ में ही उसे जमींदार की खुशामद करने-

वाला व्यवहार-कुशल पुरुष चित्रित किया गया है। उसके जीवन की सबसे बड़ी साध है गऊ से द्वार की शोभा बढ़ाना और प्रातः-काल उसके पुण्य दर्शन कर कृतकृत्य होना। मनोविज्ञान के दो सामान्य नियम—सहानुभूति और प्रशंसा—के मूल्य को वह जानता है। सहानुभूति दिखाकर वह भोला से गाय झपटने में समर्थ होता है और गुणों की प्रशंसा करके वह अपनी स्त्री धनिया को स्वयं इस बात पर राजी करता है कि वह भोला को भुसा देने में आनाकानी न करे। सबसे अधिक उसकी दरिद्रता दर्शनीय है। जमींदार से मिलने जा रहा है; पर उसकी मिर्जई तक फटी हुई है। इसे भी धनिया ने पाँच साल हुए जबर्दस्ती बनवा दिया था। उसके पास एक कंबल था जो उसके जन्म से भी पहले का था। यह दरिद्रता उसके आलस्य के कारण न थी, कर्ज के कारण थी। बिसरसाह, दुलारी, मँगरूसाह, झिंगुरीसाह, नोखेराम, पं० दातादीन सभी का वह देनदार है। उसका अनाज खलिहान में ही तुल जाता है। कुछ जमींदार लेता है, कुछ महाजन। कर्ज से उसे कभी छुटकारा नहीं मिलता। इस दरिद्रता में भी उसके हृदय की उदारता सराहनीय है। यह जानते हुए भी कि उसके भाई हीरा ने गाय को विष दिया है, हीरा के भाग जाने पर संकट के दिनों में वह उसकी स्त्री पुनिया की देख-भाल करता है। झुनिया को घर में आश्रय देने से वह भोला का बुरा बनता है और गाँव के पंचों को दंड देता है जिसके कारण वह संकट में पड़ जाता है; पर झुनिया को आश्रयहीना नहीं छोड़ता। इसी प्रकार सिलिया चमारिन को भी, जो मातादीन की प्रेमिका है, उसके द्वारा दुत्कारे जाने पर होरी के घर में ही स्थान मिलता है। उसका भ्रातृ-प्रेम भी सराहनीय है। अपने भाइयों के घर अलग करने पर उसे अपार वेदना हुई थी। चौधरी और पुनिया के

झगड़े के समय उसका खून जोश मारता है और वह चौधरी को भला-बुरा कहता है। होरी की गाय देखने जब सब आते हैं और उसके भाई ही नहीं आते तो उसे बड़ी व्यथा होती है। यह भ्रातृ-प्रेम यहाँ तक बढ़ा हुआ है कि हीरा का नाम लेने पर, जो गाय को विष देने का दोषी है, होरी धनिया को पीटता है और गोबर के माथे पर हाथ रखकर झूठ कहता है कि उसने हीरा को नाँद के पास नहीं देखा। आदर्श दृष्टि से उसके जीवन के दो कृत्य निंदनीय भी हैं—एक चौधरी बँसोर को बाँस बेचते समय भाव में गड़बड़ करना और दूसरा रूपा के विवाह में २००) लेना, जो एक प्रकार से लड़की बेचना है; पर ये दोनों कृत्य दरिद्रता की विवशता से उत्पन्न हुए हैं। इतना सब कुछ होने पर भी होरी के जीवन में जो सरसता बनी हुई है, वह है उसमें मनोविनोद की भावना के कारण। धनिया को वह पीट तक लेता है; पर क्षण भर में ही दोनों किसी बात पर हँस लेते हैं। दुलारी सहुआइन को देखकर तो उसकी चुहल की वृत्ति सहसा उभर पड़ती है और उसे भाभी कहकर जो मन में आता है कह लेता है। ऐसे प्राणी की मृत्यु पर एक गो भी दान करने के लिये न हो, इससे अधिक जीवन की विडंबना क्या हो सकती है?

धनिया का चरित्र होरी के चरित्र से चिपटा हुआ है। सामान्य नारी की भाँति अपनी प्रशंसा पर मुग्ध होने की दुर्बलता उसमें भी है। भारतीय नारी की भाँति अपने दुःख में वह अपने पति की सदैव संगिनी रही। उसे माता का हृदय प्राप्त है। इसीसे वह झुनिया को अपने घर में आश्रय देती है और आगे चलकर गोबर के लड़के को स्नेहपूर्वक स्मरण करके तड़प उठती है। उसके व्यंग्य बड़े तीखे होते हैं जिनसे होरी भी घबड़ाता है। उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि उसमें वाक्-संयम नहीं है। इसी कारण

वह कभी-कभी मार भी खाती है। सोना के विवाह के समय उसने कुल-मर्यादा का झूठा राग अलापकर अदूरदर्शिता का परिचय दिया।

होरी और धनिया के अतिरिक्त कुछ दूर तक चलनेवाले सामान्य-वर्ग के चरित्रों में गोबर-झुनिया एवं मातादीन-सिलिया के चरित्र हैं, तथा मध्य-वर्ग में मेहता-मालती और खन्ना-गोविंदी के। गोबर के घर आने से पूर्व झुनिया का स्वभाव खासा चट-पटा था। वे दोनों गाँव के रोमांस का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। गोबर अपनी अदूरदर्शिता से मारा-मारा फिरा। पहले वह मिर्जा के यहाँ नौकर हुआ, फिर खन्ना के यहाँ और फिर मालती के यहाँ। लखनऊ में रहने से उसके रहन-सहन और बुद्धि में परि-वर्तन होता है। नकल द्वारा यद्यपि गाँववालों की आँखें खोलने में वह सहायक हुआ, पर अपने पिता की स्थिति न सुधार सका। इस बात का खेद बराबर बना रहता है। वह चाहता तो माता-पिता के जीवन को सुखमय बना सकता था, पर ऐसी दशा में उपन्यास का प्रभाव भिन्न प्रकार का होता।

मातादीन एक ढोंगी, बगुला-भगत, गुण्डा ब्राह्मण है। वह बाहर से ब्राह्मण है और भीतर से चमार। रहन-सहन, खान-पान में विचार करता है पर चमारिन को अपनी स्त्री बनाकर रखता है। अवकाश मिलने पर अकेले में किसी का भी हाथ पकड़ सकता है। चमारों ने उसके मुँह में हड्डी देकर उसकी धूर्तता का उचित दण्ड दिया है। कुछ दिन उसने सिलिया के साथ रूखा व्यवहार किया, पर बाद में अपने लड़के की मृत्यु पर उसका स्नेह उमड़ पड़ा और फिर आजीवन वह सिलिया के साथ रहा। पुनर्मिलन के समय सिलिया ने पूछा था कि एक चमारिन के साथ तुम ब्राह्मण होकर कैसे रहोगे? उस समय मातादीन

ने उचित ही उत्तर दिया था—"जो अपना धर्म पाले वही ब्राह्मण है, जो धर्म से मुँह मोड़े वही चमार है।"

स्त्री-पात्रों में हमारा सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करती है मिस मालती। उपन्यासकार के शब्दों में वे "नवयुग की साक्षात प्रतिमा हैं।" मिस्टर खन्ना को जो मालती के रूप पर मुग्ध थे, उसने काफी दिन उल्लू बनाया और वह प्रत्यक्ष ही खन्ना-गोविंदी में कलह का कारण हुई। यदि मेहता बीच में न आये होते तो गोविंदी के जीवन का अंत करुण ही होता। रायसाहब की पार्टी में जिस दिन मेहता ने अफगानी का हृदय हिलानेवाला अभिनय किया उस दिन मालती उनपर मुग्ध हो गयी। यह आकर्षण बढ़ता ही गया और अंत में चिर-मित्रता में परिणत हुआ। मेहता से प्रेम के कारण ही शिकार के समय उसने एक काली जंगली लड़की के प्रति भी ईर्ष्या-भावना प्रकट की थी। काली लड़की! निस्वार्थ सेवा-भावना और आत्म-गौरव की प्रतिमूर्ति! मेहता ने बहिन कहकर हमारा संदेह दूर कर दिया, नहीं तो मालती की प्रतिद्वन्द्विनी बनने की क्षमता उसमें थी। मुझे डर है वह उपेक्षिता किसी मैथिलीशरण का मर्मस्पर्श न कर दे! खैर।

मेहता के संपर्क में आकर मालती में सुधार होता है। उसकी बाह्य चंचलता आंतरिक गम्भीरता में परिवर्तित हो जाती है और जब वह अपने जीवन का आनंद गाँव के लोगों के प्रति सहानुभूति दिखाकर प्राप्त करती है, तब तो उसपर आश्चर्य ही होता है। एक दृढ़ चरित्रवान पुरुष के संपर्क में आकर तितली देवी हो गयी।

मेहता एक दृढ पुरुष के प्रतीक हैं। मनुष्य को वे प्राकृतिक रूप में देखना चाहते हैं और जीवन को आनंदमय बनाने के पक्षपाती हैं। नारी के विषय में उनका आदर्श ऊँचा है। आदर्श नारी को

ही वे आदर्श पत्नी समझते हैं। इसी से गोविंदी को वे श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। इसी श्रद्धा की प्रेरणा से मेहता ने गोविंदी के पति खन्ना को मालती के प्रभाव से मुक्त किया। यद्यपि वे अनीश्वरवादी थे, पर सेवा-धर्म में विश्वास रखते थे। मालती में परिवर्तन उनके शुभ संयोग के कारण ही था। सब कुछ होकर भी थे वे फिलासफर ही। गृह-प्रबंध में वे असफल थे; इसी से वे एक हजार रुपये महीना कमाने पर भी खाली हाथ रहते। यहाँ मालती उपयोगी सिद्ध हुई। मालती के हृदय में जो उनके प्रति स्निग्धता थी उसने मिलकर मित्रता का रूप ग्रहण कर दोनों की आत्मा को सदैव के लिए मिला दिया।

'गोदान' में ग्राम्य जीवन का सफल चित्रण हुआ है। किसान के घर और बाहर के कई सुन्दर दृश्य उपन्यास में हैं। लू चल रही है, बगोले उठ रहे हैं, भूतल धधक रहा है, पर किसान काम कर रहा है। दूसरे स्थान पर खलिहान के दर्शन करते हैं, तो कहीं मड़ाई हो रही है, कहीं कोई अनाज ओसा रहा है, कोई गल्ला तौल रहा है। नाई, बारी, बढ़ई, लोहार, पुरोहित, भाट, भिखारी सभी अपने-अपने हक लेने के लिए जमा हो गये हैं। कोई अपनी सवाई उगाह रहा है, कोई गल्ले का भाव-ताव कर रहा है। यदि किसान का घर देखना हो, तो सोना के पति मथुरा का आँगन देखना चाहिए। एक कोने में तुलसी का चबूतरा है, दूसरी ओर जुआर के ठेठों के कई बोझ दीवार से लगाकर रखे हैं। बीच में पुआलों के गट्ठे हैं। समीप ही ओखल है जिसके पास कूटा हुआ धान पड़ा है। खपरैल पर लौकी की बेल चढ़ी हुई है और कई लौकियाँ ऊपर चमक रही हैं। दूसरी ओर उसारी में एक गाय बँधी हुई है। खाने में जौ की रोटियों और अरहर की दाल का जिक्र भी आया है। घर में अनाज न हो, देह पर कपड़े

न हों, गाँठ में पैसे न हों, पर जीवन की आनंदवृत्ति को किसान नहीं दबाता। देहात में साल के छः महीने में किसी न किसी उत्सव में ढोल मजीरा बजता है—कभी होली, कभी आल्हा, कभी कजली, कभी रामायण के बहाने। घर में मार-पीट भी एक सामान्य बात है। पुनिया और धनिया इसकी सामग्री जुटाती हैं। गाँव में द्वेष-भावना भी प्रबल होती है। गोदान में उसके दर्शन भी होते हैं। होरी के भाई द्वेष-भावना से ही उसकी गाय देखने नहीं आते और हीरा तो गाय को विष देकर भाग जाता है। इसके अतिरिक्त गाँवों में व्यभिचार भी खुले-छिपे चलता है। मातादीन का सिलिया चमारिन से संबंध था ही। झिंगुरीसिंह ने ब्राह्मणी रख छोड़ी थी। पटेश्वरी पटवारी का अपनी विधवा कहारिन से संबंध था और नेखेराम ने भोला को उसकी स्त्री नोहरी के कारण ही आश्रय दिया था।

कथोपकथन में प्रेमचंदजी को कमाल हासिल है। उनके कथोपकथन सजीव पात्रों के अनुकूल, चरित्र स्पष्ट करनेवाले और कथानक को बढ़ानेवाले होते हैं। वे आवश्यकता से अधिक न बड़े होते हैं और न अपनी मार्मिकता नष्ट करते हैं। उदाहरण के लिए प्रारंभ में होरी को धनिया द्वारा कपड़े सौंपते समय, हीरा के आक्षेप पर रात में ही होरी के गाय लौटाने के निश्चय के समय, झुनिया और गोबर के रोमांस-काल, सोना और झुनिया के भाभी ननद के मजाक तथा झिंगुरीसिंह की नकल के कथोपकथन काफी मनोरंजक हैं।

पात्रों के चारों ओर के वातावरण पर भी प्रेमचंदजी की दृष्टि रहती है। स्वतंत्र रूप से वसंत के दो चित्र अनुपम माधुर्य लिए हुए हैं। यदि पात्रों के चरित्र पर वातावरण का प्रभाव ही देखना हो तो सोना के पति मथुरा और सिलिया को देखना चाहिए।

"बरोठे में अँधेरा था। उसने सिलिया का हाथ पकड़ कर अपनी ओर खींचा।...सिल्लो का मुँह उसके मुँह के पास आ गया था और दोनों की साँस और आवाज और देह में कंप हो रहा था।"

मानव-जीवन के बहुत से पहलुओं पर 'गोदान' में प्रकाश डाला गया है। उसमें किसान, जमींदार, कारकून, पटवारी, साह लोग, थानेदार, मिल-मालिक, मजदूर, आधुनिक शिक्षित लड़कियाँ, प्रोफेसर, दलाल, संपादक सभी अपने वास्तविक रूप में आते हैं। जहाँ तक हो सका है सभी को और विशेष रूप से जमींदारों को व्यापक दृष्टि से देखा गया है। उनकी दुर्बलताओं को चित्रित भी किया गया है और उनकी दुर्बलताओं तथा कठिनाइयों को समझने का प्रयत्न भी किया गया है। रायसाहब शिक्षित जमींदारों के प्रतिनिधि हैं। वे दोनों रकाबों में एक साथ पैर रखते थे। राष्ट्रवादी भी थे और जी-हुजूर भी। जेल भी गये थे और सरकारी कर्मचारियों को डालियाँ भी देते थे। किसानों के प्रति सहानुभूति भी दिखाते और उनसे दंड तथा बेगार भी लेते। रायसाहब ने बार-बार उस वातावरण को दोषी ठहराया है जिसमें वे पले हैं। वे होरी के दंड के रुपये नोखे से अपने लिए माँगते हैं, यह नहीं कि होरी को वापस दिला दें। वे सम्पादक को इसलिए लालच देते हैं कि उनके विरुद्ध वह कोई समाचार न छापे। इससे सम्पादक और जमींदार दोनों का स्वरूप स्पष्ट होता है। कर्जदार होकर झूठी मान-मर्यादा में आकर वे व्यायामशाला के लिए मेहता को ५०००) चंदा देने का वायदा करते हैं।

किसान और जमींदारों के अतिरिक्त डैमोक्रेसी, साम्यवाद इलेक्शन पर भी काफी छींटे फेंके गये हैं। स्त्रियों के अधिकार पर तो वुमंस लीग में मिस्टर मेहता से एक व्याख्यान ही दिला दिया

है। इसी प्रकार खन्ना की मिल में आग लगते समय मजदूर-संघ और हड़ताल आदि के दृश्य हमारे सामने आते हैं। मालती के द्वारा ग्राम-सुधार का हल्का स्वरूप भी, जो अधिक सक्रिय नहीं है, चित्रित किया गया है।

समय के साथ प्रेमचंदजी की भाषा और शैली में भी परिवर्त्तन दृष्टिगोचर होता है। भाषा यद्यपि उनकी सरल, स्वाभाविक और पात्रानुकूल है, परंतु जहाँ 'गोदान' में लेखक को स्वयं कुछ कहना पड़ा है, वहाँ प्राय: भाषा अन्य उपन्यासों से अधिक मँजी, मधुर और साहित्यिक हो गयी है।

"वह अभिसार की मीठी स्मृतियाँ याद आयीं। जब वह अपने उन्मत्त उसासों में, अपनी नशीली चितवनों में मानो अपने प्राण निकाल कर उसके चरणों पर रख देता था। झुनिया किसी वियोगी पत्नी की भाँति अपने छोटे-से घोंसले में एकांत-जीवन काट रही थी। वहाँ नर का मत्त आग्रह न था, न वह उद्दीप्त उल्लास, न शावकों की मीठी आवाजें; मगर बहेलिए का जाल और छल भी तो वहाँ न था।"

कला की दृष्टि से परखें तो 'गोदान' में बहुत से पुराने दोषों का परिहार हुआ है। इसके लिए 'रंगभूमि' की भाँति यह नहीं कहा जा सकता कि उपन्यास के कलेवर को प्रेमचंदजी ने व्यर्थ बढ़ाया है। इसमें कथानक और चरित्रों का उपयुक्त सामंजस्य है। 'सेवा-सदन' की भाँति यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें सुधार-भावना प्रबल हो गयी है। इसमें आदर्श के सामने यथार्थ-वाद का पलड़ा भारी ही है। म्यूनिसिपैल्टी के-से रूखे थका देने-वाले लंबे प्रसंग भी इसमें नहीं हैं। जहाँ लंबे प्रसंग हैं, वहाँ विश्राम के लिए कोई ढंग निकाला गया है। रायसाहब जब अपनी दशा होरी को समझाते हैं तो बीच में पान खाते जाते हैं,

झुनिया जब एक साँस में अपनी अतीत-गाथा सुनाना चाहती है तो कहीं-कहीं बीच में गोबर टोक देता है; मेहता जब लंबा व्याख्यान देते हैं तो दर्शक लोग आलोचना करते जाते हैं। 'गबन' की जोहरा वेश्या की भाँति किसी की मृत्यु नहीं दिखायी गयी। सिलिया और मातादीन का पुनर्मिलन करा के प्रेमचंदजी हमारी प्रशंसा के पात्र हुए हैं। सेवासदन का अंतिम भाग लिखते समय यदि मैं प्रेमचंदजी के पास बैठा होता तो उनसे प्रार्थना करता कि चाहे सुमन को 'सेवासदन' की संचालिका बनाइये, चाहे पद्मसिंह शर्मा को वहाँ आने दीजिए या संकोचवश न आने दीजिए, पर गजाधर और सुमन को एक बार फिर मिला दीजिए। 'गोदान' उपन्यास के अन्तिम भाग में वे रायसाहब, खन्ना-गोविंदी, मेहता-मालती, सिलिया-मातादीन का उचित निर्णय कर होरी की मृत्यु के समय हीरा को बुलाकर हमारे हृदय पर ऐसा आघात करते हैं कि वह सदैव स्मरण रहता है।

वास्तव में गोदान प्रेमचंदजी की अचल कीर्ति का स्मारक है।

—प्रो० विश्वंभर

४

यह मुंशी प्रेमचंदजी की अंतिम कृति है। यह उनकी मृत्यु-शय्या का गोदान है। आइये, जरा देखें, यह ब्राह्मण के सर मढ़ी जानेवाली बछिया है अथवा जीती-जागती हृष्ट-पुष्ट दुधार और दर्शनीय गाय।

मुंशीजी किसानों के कवि हैं। उनके सुख-दुःख में शरीक होकर उनके साथ रोने और हँसनेवाले सहृदय व्यक्ति हैं। इस उपन्यास की कथावस्तु के दृश्य गाँव और शहर दोनों के हैं। गाँव

के चित्र अधिकारी रूप से और शहर के चित्र प्रासंगिक रूप से आये हैं; किंतु उपेक्षणीय नहीं, वे गहरे और बहुतायत से हैं। इन चित्रों के कारण हमको दोनों प्रकार के जीवन की एक धर्म-तुला मिल जाती है।

गोदान के नायक का नाम होरी है। उसकी स्त्री है धनिया, जिसके छत्तीस वर्ष की अवस्था में ही बाल पक चुके हैं, बिना दवा-दारू के जिसकी तीन संतान काल-कवलित हो गयी हैं। उसका लड़का गोवर और उसकी दो पुत्री सोना और रूपा सब खेत पर काम करते हैं, लगान नहीं चुकता है, कर्ज लेकर लगान चुकाता है, फिर भी राय साहब की खुशामद को जाता है और गोबर को खेत गोड़ने छोड़ जाता है। बेचारे बच्चे धूप में काम करते हैं। लौटकर देखता है कि गोबर और दोनों लड़कियाँ काम कर रही हैं। उस समय का वर्णन देखिये—"लू चल रही थी, वगोले उठ रहे थे, भूतल धधक रहा था—जैसे प्रकृति ने वायु में आग घोल दी हो।"

एक ओर धनहीन धूप और मेह की परवाह न करनेवाला कृषकों का कठिन परिश्रम और दूसरी ओर रायसाहब-जैसे देश-भक्त, सत्याग्रह-संग्राम में जेल जानेवाले जमींदार के यहाँ की मिस मालती केंद्रित गोष्ठी का हास-विलास और मदिरापान, जिसके मोहिनी जाल से लीडरी का दम भरनेवाले 'बिजली' के संपादक अलग मेज पर बैठकर खानेवाले खद्दर-चप्पलधारी पं० ओंकारनाथ भी न बच सके। वे भी देहात-सुधार-संघ के सभापति बनने के बढ़ावे तथा राष्ट्र और साहित्य संबंधिनी प्रशंसा की अलंकारिक मदिरा-पान कर भेद-भाव मिटानेवाली प्याली की मदिरा को भी गटागट पी गये। जहाँ के सात्विक पुरुषों का यह हाल, वहाँ के वास्तविक तामसी लोगों की क्या दशा

होगी ? जमींदार महोदय समझदार आदमी हैं, किसानों की दुर्दशा का नाटक लिख लेते हैं। स्वयं भी चाहते हैं कि मेहनत-मशक्कत की रोटी खायँ; लेकिन अगर बेगार लोग काम नहीं करते तो उनकी त्योरी बदल जाती है—एक आने रोज मजदूरी देने का अहसान दिखलाते हैं और शकुन के लिये होरी के गाँव से ५००) की आशा करते हैं। उन शकुन के रुपयों का कैसा अच्छा सदुपयोग होता है ?

मुंशीजी ने शहरवालों की जवाँमर्दी की भी खूब ही अच्छी तुलना की है। एक खान के वेश में मेहताजी आते हैं। जरा डाट बतलाते और बंदूक दिखलाते ही सब की बोलती बंद हो जाती है, एक दूसरे का मुँह ताकने लगते हैं, खन्नाजी की आशिक-मिजाजी भी रफूचक्कर हो जाती है। मालती देवी के उपासक भी उससे टेढ़ी-सीधी बातें करने लगते हैं। रुपये की भेंट देकर जान छुड़ाना चाहते हैं। केवल रायसाहब अपने क्षत्रियत्व का थोड़ा-सा परिचय देते हैं; लेकिन उस समाज का परित्राण करने को बेचारा होरी ही आता है। वही खान से मुठ-भेड़ कर उसे पटक जमाता है। ऐसे तुलनात्मक स्थल उपन्यास में कई स्थान में मिलते हैं—मिस मालती और एक ग्रामीण बालिका की; वह मेहता और मालती के लिये खाने-पीने का सामान जुटा देती है और मालती के सर-दर्द के लिये ऊँचे टीले पर चढ़कर दवा ला देती है। दातादीन के पुत्र मातादीन का चमारिन से संबंध हो जाता है, कोई कुछ नहीं कहता; किंतु गोबर का झुनिया से संबंध हो जाता है, तो धर्म का बाँध टूट जाता है। होरी को घर गिरवी रखकर दंड देना पड़ता है। गोबर अपनी स्त्री के साथ रहकर शहर में दुखमय जीवन बिताता है, ताड़ी का आदी हो जाता है, बच्चा मर जाता है। झुनिया का गाँव का जीवन कहीं सुखमय था।

बाइबिल में हम जॉब (Job) की कहानी पढ़ते हैं, पुराणों में हरिश्चंद्र की कथा का पाठ पढ़ते हैं; किंतु गाँवों में कितने जॉब और हरिश्चंद्र वर्त्तमान हैं। एक-एक किसान सहनशीलता में जॉब के समान है। होरी भी उन्हीं में से है। उसके ऊपर आपत्तियाँ आती हैं। कर्ज बढ़ता जाता है। भाई के प्रति उदारता के लिये धनिया से लड़ाई होती है। बच्चों के लिये अंजन लगाने तक को दूध नहीं मिलता। भोला के यहाँ से आयी हुई गाय को उसका ईर्षालु भाई हीरा मार डालता है; किंतु होरी की क्षमा अतुल है। हीरा भाग जाता है। होरी उसकी बचाने के लिये पुलिस को रिश्वत भी देने को तैयार है। उसकी खेती की देख-भाल करता है। उसके लौटने पर प्रेम से क्षमा कर देता है। गाय खरीदने के लिये सुतली बँटता है, सड़क पर गिट्टी कूटता है। मजदूरी करते हुए लू लगकर मर जाता है और सुतली की वेच के रुपयों से गोदान होता है। अगर उसके चरित्र में कोई कमी है तो यह कि रूपा का ब्याह एक अधेड़ से कर देता है और २००) रु० स्वीकार कर लेता है, वह भी जब कि उसकी जमीन की कुर्की आ जाती है। भूखा मरता, क्या न करता?

उपन्यास की कथावस्तु गढ़ी हुई नहीं मालूम पड़ती है। उसमें जीवन का सा बहाव है। जीवन के से ही छायालोकमय सुख-दुख भरे चित्र हैं, कहीं खन्ना और तंखा जैसे नैतिक गर्त हैं तो कहीं होरी जैसे उच्च शिखर हैं। कथावस्तु में पूरी गति है, वर्णन सुंदर होते हुए भी इतने बड़े नहीं हैं कि कथावस्तु की गति कुण्ठित हो जाय। वस्तु का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है, सभी प्रकार का जीवन आ गया है। चोटी के आदमियों का भी वर्णन है और निर्धन लोगों का भी। मिलों की हड़ताल, शकर व्यवसाय की समस्याएँ चुनाव के दांव-पेंच, गाँव के पंचों, जमींदारों और

पटवारियों का दंभ और साहूकारों की जायदाद हड़पनेवाली नीति, शिकार, पिकनिक, समाज-सेवा, बालकों का मनोराज्य, जवान और बूढ़ों की रसिकता सभी का सुंदर चित्र है।

मानवी और बाह्य प्रकृति दोनों का ही बड़ा सुंदर चित्रण हुआ है। देखिए वसंत का कैसा सुंदर चित्र है—फागुन अपनी झोली में नव-जीवन की विभूति लेकर आ पहुँचा था। आम के पेड़ दोनों हाथों से बौर की सुगंध बाँट रहे थे, और कोयल आम की डालियों में छिपी हुई संगीत का गुप्त दान कर रही थीं।

गाँवों में ऊख की बुआई लग गयी थी। अभी धूप नहीं निकली, पर होरी खेत में पहुँच गया है। धनिया, सोना, रूपा तीनों तलैया से ऊख के भीगे हुए गट्ठे निकाल-निकालकर ला रही हैं और होरी गड़ासे से ऊख के टुकड़े कर रहा है।

एक सम्पन्न किसान के घर का चित्र देखिए—

"सल्लो भी पीछे-पीछे आँगन में खड़ी हो गयी। उसने देखा, सोना यहाँ कितने आराम से रहती है…आँगन में ज्योत्स्ना ने आइना बिछा रक्खा है। एक कोने में तुलसी का चबूतरा है दूसरी ओर जुआर के ठेठों के कई बोझ दीवार से लगाकर रक्खे हैं। बीच में पुआलों के गट्ठे हैं। समीप ही ओखल है, जिसके पास कूटा हुआ धान पड़ा हुआ है, खपरैल पर लौकी की बेल चढ़ी हुई है और कई लौकियाँ ऊपर चमक रही हैं। दूसरी ओर की ओसरी में एक गाय बँधी हुई है।

कर्ज लेनेवालों की मनोवृत्ति का कैसा सुन्दर परिचय दिया गया है देखिए।—"वह जानता था कि घर में रुपये नहीं हैं, अभी तक लगान नहीं चुकाया जा सका है, बिसेसरसाह का भी देना बाकी है जिसपर आने रुपये का सूद चढ़ रहा है। लेकिन

दरिद्रता में जो एक प्रकार की अदूरदर्शिता होती है, वह निर्लज्जता जो तकाजे, गाली और मार से भयभीत नहीं होती, उसने उसे प्रोत्साहित किया ”

गाय आने की खबर सुनकर बच्चों के स्वर्ण स्वप्नों के राज्य का कैसा सुन्दर चित्र खींचा गया है देखिए—

रूपा ने पिता के गले में हाथ डालकर कहा—“दूध मैं ही दुहूँगी।”

“हाँ हाँ, तू न दुहेगी तो और कौन दुहेगा ?”

“वह मेरी गाय होगी।”

“हाँ, सोलह आने तेरी।”

‘सिर को एक झटका देकर बोली—“जा तू गोबर थाप। जब तू दूध दुहकर रखेगी, तो मैं पी जाऊँगी।”

“मैं दूध की हाँड़ी ताले में बन्द करके रखूँगी।”

“मैं ताला तोड़कर दूध निकाल लाऊँगी।”

गोदान के पात्र बड़े स्वाभाविक और व्यक्तित्व-पूर्ण हैं। मेहताजी और मिर्जा खुर्शेद के चरित्रों में कुछ विलक्षणता है। मेहताजी फिलासफर होते हुए भी बड़े जिन्दादिल हैं। उनके जीवन का दार्शनिक तत्व भी कुछ और ही है। उनके विवाह के आदर्श साधारण पढ़े-लिखे मनुष्यों से कुछ भिन्न हैं। वे हाथ से काम करने के पक्षपाती हैं। गाँव की स्त्रियाँ उनके वैवाहिक आदर्श के अनुकूल बैठती हैं। बीसवीं शताब्दी की युवती मिस मालती देवी उनके आदर्शों के साँचे में ढल जाती है। पात्रों के चरित्र स्थायी नहीं हैं, उनमें विकास है। मालती के चरित्र में धीरे-धीरे परिवर्तन होता है। वह हाथ से खाना पकाने लगती है और ग्रामीण बालक-

बालिकाओं की रुचि से सेवा करती है। हीरा में स्वयं पश्चात्ताप होता है। धनिया भी गोबर की प्रेमिका झुनिया को अपने घर में रख लेती है। पहले चाहे उसे कुलच्छनी कहा हो, किंतु उसकी दशा देखकर उसके विचार बदल जाते हैं। मातृत्व का भाव जात-बिरादरी के पथ में पराजय प्राप्त कर लेता है। मुंशीजी का मनुष्यत्व पर घोर विश्वास है। नीच से नीच मनुष्य में वे मानवता की झलक पा जाते हैं। उनके पात्र गिरते हैं पर सुधरते जाते हैं। गोबर काफी गिर गया था, परंतु झुनिया की सेवा का उसपर काफी प्रभाव पड़ा। मातादीन भी अंत में सिलिया को अपना लेता है। सिलिया के पुत्र के मर जाने से उसपर काफी असर पड़ता है। साहस आ जाता है। धनिया अपने पति को डाँटने-फटकारने में नहीं चूकती, उससे सब कुछ कह देती है—घोर मतभेद रखती है, बुरे वचन भी कह जाती है; किंतु उसका नारी-हृदय पति की मंगल-कल्पना के लिए सदा शंकित रहता था। देखिए कैसा सुंदर वर्णन है—"होरी लाठी कंधे पर रखकर घर से निकला, तो धनिया द्वार पर खड़ी उसे देर तक देखती रही।" उसके इन निराशाभरे शब्दों ने धनिया के चोट खाये हुए हृदय में आतंकमय कम्पन-सा डाल दिया था। वह जैसे नारीत्व के सम्पूर्णतम व्रत से अपने पति को अभय-दान दे रही थी। उसके अंत:करण से जैसे आशीर्वादों का व्यूह-सा निकलकर होरी को अपने अंदर छिपाये लेता था। विपन्नता के इस अथाह-सागर में सोहाग ही वह तृण था, जिसे पकड़े हुए वह सागर को पार कर रही थी। इन असंयत शब्दों ने यथार्थ के निकट होने पर भी मानो झटका देकर उसके हाथ से वह तिनके का ही सहारा छीन लेना चाहा। बल्कि यथार्थ के निकट होने के कारण ही उनमें इतनी वेदना-शक्ति आ गयी थी। काना

कहने से काने को जो दुख होता है, वह क्या आँखवाले आदमी को हो सकता है।" कैसा मार्मिक वर्णन है ?

इस उपन्यास-लेखक पर आनेवाली मृत्यु की छाया-सी दिखलाई पड़ती है जो कि अन्त में होरी की मृत्यु में कुछ स्पष्टता धारण कर लेती है। होरी की मृत्यु का भी कारण उदारता, कार्य-भार की अधिकता और मानसिक व्यथा थी।

उपन्यास में एक और भी सुंदर बात है कि भावी बातों की बहुत दूर से भूमिका बँध जाती है। गाय की आवश्यकता शुरू से ही प्रकट हो जाती है। इस उपन्यास में मुंशीजी ने बहुत आदर्शवाद भी नहीं दिखाया है और न पात्र बहुत बुरे ही। हाँ, होरी कुछ साधारण से अच्छा हो गया है, लेकिन बिलकुल निर्दोष नहीं है। आवेश में वह स्त्री को मार सकता है।

उपन्यास की भाषा तो बहुत ही प्रौढ़ और सजीव हो गयी है। साधारण से साधारण शब्दों द्वारा गहरा से गहरा प्रभाव उत्पन्न किया गया है। ग्रामीण लोगों की भाषा में जो स्वाभाविक गाम्भीर्य और जोर होता है उसका पूरा-पूरा लाभ उठाया गया है। 'दूध आँख में आँजने तक को नहीं मिलता' कितना जोरदार वाक्य है।

उपन्यास में कुछ खटकनेवाली बातें भी हैं।

मुंशीजी के गाँव के पात्र अपनी अवस्था से कुछ अधिक बुद्धिमान हैं और कहीं-कहीं पढ़े-लिखों की-सी बातें करते हैं। होरी के रायसाहब को घर जाने का जो धनिया और गोबर ने विरोध किया, उसमें आजकल के पढ़े-लिखे साम्यवादियों के वार्तालाप की झलक मिलती है। झुनिया का प्रेमालाप कुछ अधिक उग्र हो गया है जो प्रथम परिचय के लिये कुछ अस्वाभाविक है; यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि झुनिया शहर में दूध बेचने के कारण इस विषय में पंडिता हो गयी थी।

कुछ बातें असंगत-सी हो गयी हैं। मेहता यदि फिलासफर न होता तो अच्छा होता। उनका हजार रुपये खर्च कर देना तो उनके चरित्र के अनुकूल था, किन्तु खान बनकर आना जरा स्वाभाविकता से बाहर की बात है। धनुष-यज्ञ के अवसर पर रायसाहब भीतर ही बैठे रहते हैं और मेहमान और अफसर लोग बाहर बैठते जाते हैं, यह भी कुछ अस्वाभाविक है। मिल में आग लग जाने से खन्नाजी का तख्तापलट-सा हो जाता है। वे तबाह हो जाते हैं और फिर भी मिल चालू हो जाता है।

मुन्शीजी ब्राह्मणों के भी कुछ अधिक खिलाफ मालूम होते हैं। मातादीन के मुँह में चमारों द्वारा हड्डी दिलवाकर कुछ ज्यादती की है। किन्तु यह अकारण न था।

इस उपन्यास ने मुन्शीजी की कीर्ति को और भी ऊँचा उठा दिया है। हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में इसका बड़ा ऊँचा स्थान रहेगा।

—गुलाब राय

प्रेमचंद : एक व्यक्तित्व

प्रेमचंद से सरल व्यक्तित्व मैंने किसी महापुरुष का नहीं देखा। महापुरुष आप किसे कहेंगे ? मैं तो मानता हूँ कि जो व्यक्ति सामाजिक चेतना (Social consciousness) के विस्तृत महासागर में सत्य, शिव और सुंदर की जो लहरें घुल-मिल गयी हैं, उसमें अपने को खोये बैठे हैं, उनका आभास पा लें, उन्हें समझ लें, उनसे प्रेरणा ले सकें और उस प्रेरणा से अपने व्यक्तित्व को धनी बनाकर इन लहरों को अपना कुछ दे सकें, उनकी शक्ति बढ़ा सकें, वे महापुरुष हैं। महापुरुष बीहड़ एकांत में जन्म नहीं लिया करते। समाज की चेतना का—और चेतना के उस अंश का जो शुभ है—उसे स्पर्श कर व्यक्ति की चेतना महान् बनती है। प्रेमचंद ने अपने युग को, उसकी पीड़ा और पुकार को पहचाना था और अपनी आवाज को उसमें मिलाकर युग के आवाज को बुलंद बनाया था।

आज हम हिंदी-प्रान्तों के सामाजिक जीवन को लें, तो उसे प्रेमचंद के प्रति बहुत अधिक ऋणी पायेंगे। हाल ही में एक

सार्वजनिक, राष्ट्रीय कार्यकर्ता ने जब सुना कि हमलोग प्रतिवर्ष प्रेमचंद की स्मृति में इकट्ठा होते हैं तो बड़ा आश्चर्य प्रकट किया और कहा—"आप लेखक की जयंती क्या मनाते हैं, किसी कर्मठ की जयंती मनाइए। शिवा और प्रताप की जयंती समझ में आती है, तिलक और गाँधी के जीवन से हम कर्म की प्रेरणा पा सकते हैं, पर प्रेमचंद !" मैं भौचक्का-सा उनकी ओर देखता रह गया और कई दिनों तक सोचता रहा— "शिवा और प्रताप, तिलक और गाँधी अपने जीवन की प्रेरणा कहाँ से पाते हैं ? कलाकार न हो, साहित्य-स्रष्टा न हो, कवि न हो, विचारक न हो—तो कर्मठों के पैदा होने और फलने-फूलने के लिये जमीन और वातावरण कौन तैयार करेगा ?" हमारे राष्ट्रीय जीवन में प्रेमचंद की देन को मैं—गाँधी और जवाहरलाल और एक-दो और चोटी के नेताओं को छोड़ दें तो—बड़े से बड़े राष्ट्रीय नेताओं की देन से बड़ा मानता हूँ। ये लोग कुछ धुँआधार भाषण दे लेते हैं जिसमें साम्राज्यवाद के प्रति कड़ी से कड़ी गालियाँ होती हैं, पर ये लोग सृजन कहाँ करते हैं ? रचनात्मक आदर्श की प्रेरणा इनसे कब मिलती है ? वह तो तभी मिलेगी जब आप अपनी फुर्सत की घड़ियों में सूरदास के चरित्र पर मनन करते हैं या विनय की बात सोचते हैं या चक्रधर का चित्र आपके सामने होता है। राष्ट्र के प्रति एक महान् उत्सर्ग की भावना का उदय सार्वजनिक सभाओं की चीख-पुकार और शोर-गुल में नहीं होता। वह तो होरी-जैसे व्यक्तियों को एक गलत समाज-व्यवस्था की मशीन में पिसते देखकर मन में समवेदना और निश्चय की जो भावना उठती है, उसमें होता है। मैं एक बार फिर कह दूँ कि राष्ट्र का निर्माण राजनीतिक मुतफन्नियों (Demagogues) के जरिये नहीं होता, उस साहित्यकार के हाथों होता है जो अपने अंतर की

वेदना और मंथन से जनता के सामने जीवित आदर्शों की सृष्टि किया करता है।

प्रेमचंद महापुरुष थे, पर जब कभी मैं इस बात का विश्लेषण करने बैठता हूँ कि वह कौन-सी चीज थी जिसने उन्हें महान् बनाया तो कभी-कभी हैरान हो जाना पड़ता है। एक अजब सादगी उस आदमी में थी! बच्चों का-सा औत्सुक्य—पहली बार मैंने उन्हें दिल्ली-सम्मेलन १९३४ में देखा। एक बड़े हॉल में पचास खटियों के बीच हरिऔधजी की खटिया के नजदीक एक खटिया पर प्रेमचंद लेटे हुए थे और बड़े मनोयोग से किसी अंग्रेजी पुस्तक का अध्ययन कर रहे थे। जैनेन्द्रजी मेरे साथ थे। हमलोगों को देखकर उठ बैठे। एक कुछ मैली-सी खद्दर की कमीज और उसी किमाश की धोती—गले के बटन खुले हुए—मुँह पर मूँछें अस्त-व्यस्त फैली, सिर के बाल रूखे—मैं हैरान कि क्या यही प्रेमचंद हैं! बातचीत हुई—निहायत प्रभावहीन और विनीत (unimpressive, unassuming) पर जब वे हँसे, ठहाका मारकर, तो उसके पीछे जैसे एक जिन्दा व्यक्तित्व की चमकदार झलक मिल गयी हो। मैं लौटा तो विश्लेषण करके उनके व्यक्तित्व की महानता के तत्वों का परिचय तो किसी को नहीं दे सकता था, पर यह लगा कि एक खास शख्सियत ने मेरे जीवन में प्रवेश किया है। शाम को उन्हें कवि-सम्मेलन में बैठे देखा, कुछ अधिक ताजा थे और रस लेकर कविताएँ सुन रहे थे। किसीने कहा—"प्रेमचंदजी आप यहाँ?" तो खूब हँसे, बोले—"मजा आ रहा है।" उनमें बच्चों का-सा औत्सुक्य ही न था—चपलता भी थी। कवि-सम्मेलन के प्रति रस ही नहीं था, एक हल्का-सा तिरस्कार और ताना (Sarcasm) भी था।

पर, इस शख्स को अभिमान क्यों छू भी न गया था? कौन

था दिल्ली-सम्मेलन में—या वैसे भी हिंदी के विस्तृत संसार में—जिसने हिंदी की सेवा प्रेमचंद से ज्यादा की थी? किसने हिंदी के साहित्य को तुतलाहट की अवस्था से उठाकर उसे प्रौढ़ता और गांभीर्य दिया था, और जाते-जाते जो 'गोदान' के रूप में ऐसा साहित्य दे गया जिसने हिंदी को अन्य प्रांतीय भाषाओं के सामने ही नहीं, विश्व के साहित्य के कंधों से अपने कंधों को मापने का दावा करने की क्षमता दी? हिंदुस्तान गुलाम देश न होता तो आज अमेरिका और यूरोप की साहित्यिक अभिरुचि रखनेवाली जनता अपनी भाषाओं में 'गोदान' के संस्करणों से वंचित न रह पाती।

लेकिन प्रेमचंद में अहंकार नहीं था। १९३६ में नागपुर-सम्मेलन में जब मिले तो मैंने पर्ल एस० बक का Good Earth समाप्त ही किया था और मैं उसमें सराबोर था। प्रेमचंद को सारा प्लॉट सुनाया। उसके चरित्रों का विश्लेषण उनके सामने किया। अपनी प्रशंसा से भरी टीका-टिप्पणी की। प्रेमचंद ने सब सुना। उपन्यास की दाद दी। और जब मैं इंदौर लौटा—एक हफ्ते के अंदर 'गोदान' मेरे हाथों पड़ा। तीन दिन मैं प्रेमचंद के निकटतम सम्पर्क में रहा—भले आदमी ने मुझसे यह नहीं कहा कि उसने हाल ही में एक ऐसी किताब खत्म की है, जो शायद भारतीय जीवन का उससे भी अच्छा परिचायक है, जितना Good Earth में चीन के त्रस्त जीवन का। होरी और धनिया के चरित्र Wang Lung और Olan के चरित्रों से कुछ अधिक सुगढ़ ही बन पाये हैं। Good Earth जब प्रकाशित हुआ तो रात भर में अमेरिका में उसकी धूम मच गयी थी और सबेरे हजारों आदमियों के हाथ में उसकी प्रतियाँ थी—पर यह बात प्रमाण नहीं है कि 'गोदान' किसी भी दृष्टि में उससे हीन है। प्रेमचंद की प्रतिभा की तो और भी बलिहारी देने को जी चाहता

है, जब हम देखते हैं कि आर्थिक और राजनीतिक संघर्षों से पीड़ित वातावरण में भी उनकी वृत्ति इतनी निखरी; पर उस शख्स ने कभी अपनी इस प्रतिभा पर दंभ नहीं किया, जन-साधारण से वह अपने को समेट कर नहीं बैठा।

प्रेमचंद की महानता थी किसमें? महानताएँ तो कई प्रकार की होती हैं। एक पराक्रम की महानता—इस दृष्टि से हम सिकन्दर, नैपोलियन और हिटलर—आप चाहें तो चर्चिल को भी महान् कह सकते हैं। एक आध्यात्मिकता की महानता होती है—जैसे बुद्ध, गाँधी और ईसा की महानता। एक ऐसी महानता भी होती है—जो कला की प्रज्ज्वलनशील, संवेदनशील गहराई का स्पर्श कर महान् बनती है—जैसे बीथोवन, रोमारोलाँ और रवीन्द्रनाथ। प्रेमचंद में तो यह भी नहीं है। कला की इस गहराई से वे दूर हैं। रोमारोलाँ या रवीन्द्र को पढ़ें—तो उनके सामने प्रेमचंद कुछ रूखे और अटपटे से लगते हैं। उनकी तो अपनी और भी खामियाँ हैं। प्रेमचंद ने जीवन की कोई नयी फिलॉसफी नहीं दी, घटनाओं का विश्लेषण भी किया, तो समाधान से वह अपने को बचाते रहे। घटनाएँ जो उन्होंने चुनीं, वे अधिकतर साधारण हैं और उनकी विवेचना उनपर टिप्पणी के रूप में है।

फिर भी प्रेमचंद महान् तो हैं ही। उनका व्यक्तित्व, उनकी रचनाएँ, हमारे अंतराल का स्पर्श तो करती ही हैं, हमें जाग्रत भी बनाती हैं, हमें बल देती हैं, प्रेरणा देती हैं, प्रोत्साहन देती हैं—रस भी देती हैं। इस स्फूर्ति का जो हम प्रेमचंद के संपर्क में आकर अपने में पाते हैं, रहस्य क्या था? मैं तो इसका एक ही जवाब पा सका हूँ—प्रेमचंद को मनुष्य से प्रेम था। अपने पात्रों के वे इस दृष्टि से निर्माता नहीं थे जिससे कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाता चलता है, जनक थे—अपने रक्त और मांस से उन्होंने

उनका सृजन किया था, और इसी से उनके प्रति प्रेममय थे। प्रेमचंद पात्र में तन्मय हो सकते थे। इसीसे उनके पात्र इतने जीवित बन सके हैं। प्रेमचंद को मानवता से प्रेम था, उसकी कमजोरियों के प्रति सहानुभूति थी, उसकी उदात्त वृत्तियों के प्रति आदर और आदर्श में श्रद्धा थी। प्रेमचंद की सहानुभूति बहुत अधिक व्यापक थी। इसी कारण वे साधारण पात्रों को पाठक का प्रेमपात्र बना पाये हैं। सुमन, सूरदास, विनय, सोफिया, धनिया और होरी—इन सबके प्रति हमारे मन में अच्छे से अच्छे भाव ही जागृत होते हैं।

यह प्रेम उन्हें वेदना से मिला। अपनी व्यक्तिगत वेदना से भी प्रेमचंद को जीवन में सुख नहीं मिला। उनका जीवन वेदनाओं का एक निर्बाध चक्र ही बना रहा। जीवन में उनको निराशाएँ भी खूब मिलीं। किसी ने कहा था कि 'गोदान' का होरी स्वयं प्रेमचंद हैं। शायद सच कहा था। प्रेमचंद को उपेक्षा और तिरस्कार कम नहीं मिला, और इसके लिए मैं हिंदी की सबसे बड़ी साहित्यिक संस्था हिंदी-साहित्य-सम्मेलन को भी दोष दूँ, तो क्या वह अनुचित होगा? नागपुर के अधिवेशन (१९३७) में वे पहुँचे थे। मैं जिस ट्रेन से पहुँचा, उसके आधा घंटा पहले उनकी ट्रेन पहुँची थी। मैंने उन्हें अप्रैल की दोपहरी में, स्टेशन के नजदीक खुले मैदान में, धूप में अकेले खड़े तपते पाया। सम्मेलन के व्यवस्थापकों ने वहाँ उन्हें इसलिये खड़ा कर रखा था कि वे उनके लिये अकेला ताँगा लेकर शहर जाना नहीं चाहते थे। इस इंतजार में थे कि दूसरी गाड़ी आवे और सवारियाँ उतरें तब उन्हें भी ठहरने के स्थान तक पहुँचा दिया जाय। नागपुर का अधिवेशन—शायद दूसरे अधिवेशनों के समान ही—सभापतियों का अधिवेशन था। एक रोज यह देखकर मैं तो हैरत में रह गया कि

एक साहब, जो शायद साहित्य-परिषद् के स्वागताध्यक्ष थे, आये और बड़ी लापरवाही से प्रेमचंद से कहा—"साहब, साहित्य-परिषद् के सभापतित्व के लिये कोई राजी नहीं हो रहा है, अमुक-अमुक से प्रार्थना की थी, आप ही कृपा कर स्वीकृति दे दें।" प्रेमचंद ने सहज भाव से अपनी असमर्थता प्रगट की; पर मेरे मन में तो एक भाला चुभा—कि जिस व्यक्ति को अपने वार्षिक अधिवेशन का प्रतिवर्ष सभापति बनाकर सम्मेलन को गौरव मानना चाहिये था, उससे ऐसी तुच्छ-सी प्रार्थना इतनी लापरवाही से की गयी।

पर प्रेमचंद में एक बात थी जिसने उन्हें उपेक्षा, तिरस्कार और निराशा के बीच में, जिंदा और जिंदादिल रखा। नागपुर के वे तीन दिन भी क्या जीवन में भूलने के दिन हैं? प्रेमचंद थे, अब्दुल हक आ गये थे, प्रो० आकिल थे—गोविलजी, जैनेंद्र, अज्ञेय—हमलोगों का एक दल बन गया था—और कॉलिज के लड़कों से कम जिंदादिल वह दल नहीं था। जैनेंद्रजी के एक दोस्त ने नागपुर में एक अच्छा रेस्तराँ खोल रखा था, कभी हम वहाँ नजर आते, कभी सड़कों पर घूमते हुए, कभी अपने कमरे के सामने के बरामदे में। गोविलजी केवल फल खाते थे, और शायद हमलोगों के लिये ढेर के ढेर फल मँगा लेते थे। उन फलों की तश्तरियों के सामने, आदर्श कर्मशील, कर्मठ व्यक्तियों के रूप में हम सबके बीच साहित्य और जीवन की गहरी से गहरी चर्चा तो होती ही रहती थी और उस सबके पीछे प्रेमचंद का जोर का अट्टहास—जो भाग्यवश बिलकुल ही विलुप्त नहीं हो गया है, श्रीपत में भी कुछ अंश में आ गया है—आज भी जब कानों में गूँज उठता है, तो दिल को एक धक्का-सा पहुँचता है।

प्रगतिशीलता के अच्छे से अच्छे मानी में प्रेमचंद का व्यक्तित्व एक प्रगतिशील व्यक्तित्व था। उनका प्रत्येक उपन्यास

पिछले उपन्यास से बाजी ले गया है, चरित्र अधिक स्पष्ट है, घटनाएँ तीव्र, वेदना गहरी। 'गोदान' की कल्पना मैं विश्व-साहित्य की सतह पर करता हूँ। मेरा पूरा विश्वास है कि प्रेमचंद तीन वर्ष और जिंदा रहते तो हिंदी को एक ऐसी पुस्तक पर नाज हो सकता था, जो संसार की सर्व-श्रेष्ठ पुस्तकों में होती। मुझे याद है—नागपुर में एक स्थान पर चाय लेते हुए जब श्रीमती किबे ने प्रेमचंद का परिचय देते हुए कहा था—"मैंने आपको बीस साल पहले पढ़ा था, तब भी आप बड़ा ही सुंदर लिखते थे, और अब भी वैसा ही लिखते हैं" तो प्रेमचंद ने उस वाक्य के भाव को थोड़ा-सा मरोड़कर हल्की-सी झुँझलाहट के साथ कहा था—"तो क्या इतने वर्षों मैंने भाड़ ही झोंका!" प्रेमचंद जिस दिन तक जिंदा रहे, जीवन में प्रगति करते रहे। और, राष्ट्र की आत्मा के साथ उनका जो संपर्क था, वह गहरे से गहरा होता गया। वे सदैव शुद्ध राष्ट्रीयता के समर्थक रहे। सांप्रदायिकता की जो जहरीली लपटें आज चारों ओर फूटती चली आ रही हैं, उनके बीच रहकर भी वे उनसे सदा मुक्त रहे। भाषा के क्षेत्र में वे हिंदुस्तानी के समर्थक थे—इसके पीछे केवल उनका उर्दू के प्रति प्रेम नहीं था; पर भारतीय सभ्यता की वह सत्य झाँकी उनके सामने थी जिसमें हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों का शुद्ध-सात्विक सम्मिश्रण है। गाँधीजी ने नागपुर की भारतीय साहित्य-परिषद् के अधिवेशन में जब हिंदी-हिंदुस्तानी का निर्णय किया और जब उनसे सहमत न होते हुए भी जवाहरलाल उनके नजदीक खामोश बैठे रहे, तब प्रेमचंद ने ही शायद अपने जीवन की दो-चार तकरीरों में सबसे जोरदार तकरीर में हिंदुस्तानी का समर्थन किया। गाँधीजी के बाद देश में किसी ने हिंदू-मुसलिम एकता के लिये उतना प्रयत्न किया है तो प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों के द्वारा।

समाज के भीतर के प्रज्ज्वलन से प्रेमचंद ने अपने व्यक्तित्व के दीपक की बाती जलायी थी। यह ज्योति उनमें सदा जलती रही—इसी ने उन्हें जिंदा रखा, इसी ने उन्हें लेखक बनाया, इसी ने उनके व्यक्तित्व को हमारे नजदीक इतना प्रिय बना दिया है। प्रेमचंद के व्यक्तित्व में और उनकी रचनाओं में जो उनके व्यक्तित्व का विस्तार होता है, हम उस चिनगारी को पाते हैं और उसी की हम पूजा करते हैं। हमारे मन में गरीबों के प्रति सौहार्द की जो भावना है, जो देश-प्रेम है, जो त्याग, तपस्या और बलिदान का भाव है, वही तो हमारी राष्ट्रीय मानवता के विकास का सूत्र है—प्रेमचंद ने उसे अपने व्यक्तित्व से प्रज्ज्वलित किया है। इसके प्रकाश में हमारी राष्ट्रीय मानवता अपना रास्ता साफ-साफ पा लेती है। यह रहस्य है, प्रेमचंद के प्रति उमड़ते हुए हमारे इस प्रेम और हमारी इस श्रद्धा का। प्रेमचंद Classic नहीं हैं—युग-युग तक वे जियेंगे नहीं। शायद शरद् और रवींद्र जितना भी न जियें; पर जब तक हमारी यह गुलामी है, हमारी आत्मा पर आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक बन्धन हैं, हमारी आज की समस्याएँ हैं, और उन समस्याओं के बीहड़ में अपना रास्ता ढूँढ़ने में हम प्रयत्नशील हैं, और घनी झाड़ियों को चीरते हुए और दुर्गम घाटियों को पार करते हुए हम निश्चित रूप से आगे बढ़ते चले जा रहे हैं, तब तक प्रेमचंद हमें इतने ही प्रिय रहेंगे। सैकड़ों वर्षों के बाद एक जमाना ऐसा आ सकता है जब इतिहासकार शायद यह सोचे कि प्रेमचंद को इतिहास में स्थान दिया जाय या नहीं। पर, आज तो वे हमारे जितना नजदीक हैं और प्रिय हैं तथा आदर और श्रद्धा के पात्र हैं, आनेवाले अनेक युगों तक तो वैसे ही रहेंगे। आज के युग के उल्लास, आकांक्षाएँ, आदर्श हम उनमें पाते हैं। —प्रो० शांतिप्रसाद वर्मा

आदर्श और यथार्थ

प्रेमचंद ने साहित्य की किसी हद तक वही व्याख्या की है जिसे हम भारतीय कहने के आदी हैं। साहित्य का संबंध किसी ऐसी वस्तु से है जो हमारे ऊपरी इंद्रिय ज्ञान से परे है, जो अनेकों में व्याप्त होते हुए भी एक और अनंत है। साहित्य की यह रहस्यात्मक कल्पना भारतीय विचारधारा की कोई अनोखी देन नहीं है ; पर पश्चिम के कलाकारों के लिए ही अश्रुत और अपूर्व है। फिर भी इस युग में हम उस दृष्टिकोण को भारतीय कहने के आदी हैं और प्रेमचंद का साहित्य की इस प्रकार की व्याख्या करना उनपर इस युग के, और उसकी भारतीयता के प्रभाव को बताता है। 'हंस' में उन्होंने लिखा था—"साहित्य उस उद्योग का नाम है, जो आदमी ने आपस के भेद मिटाने और उस मौलिक एकता को व्यक्त करने के लिए किया है, जो इस जाहिरी भेद की तह में, पृथ्वी के उदर में व्याकुल ज्वाला की भाँति छिपा हुआ है। जब हम मिथ्या विचारों और भावनाओं में पड़कर असलियत से दूर जा पड़ते हैं, तो साहित्य हमें उस सोते तक पहुँचाता है, जहाँ Reality अपने सच्चे रूप में

प्रवाहित हो रही है। इससे मालूम होता है कि साहित्य का ध्येय, उसे व्यक्त करना नहीं है, जो है; बल्कि उसे, जिसे होना चाहिए। मनुष्य ने आपस में तमाम भेद-भाव कर लिये ह ; साहित्य इन्हीं का चित्र खींचने से संतुष्ट नहीं—वह उनके परे मनुष्य-मात्र की उस एकता का चित्र खींचना चाहता है जो अब भी है; पर छिपी हुई है और जिसे हमारे समाज में व्यक्त होना चाहिए। हमें यथार्थ से मतलब नहीं; क्योंकि मनुष्य यथार्थ नहीं, भेद-भावों को समझ बैठा है। हमें उस सच्चे यथार्थ से मतलब है जो निर्मल निष्पाप इस ऊपरी यथार्थ के नीचे छिपा हुआ है। इस सच्चे यथार्थ को हम आदर्श कह सकते हैं; क्योंकि हम उस तक पहुँचना चाहते हैं और व्यक्त रूप में अभी वह हमारे पास नहीं है।"

साहित्य के प्रति उनका एक दूसरा दृष्टिकोण भी हमारे सामने आता है जिसे हम विदेशी और पश्चिमी कहने के आदी हैं। इसके अनुसार साहित्य किसी परोक्ष यथार्थ—जो निर्मल, सनातन और अखंड है—को नहीं व्यक्त करता, वरन् उसकी सृष्टि ही दो तत्त्वों के द्वंद्व से होती है जो हमेशा बदलनेवाले हैं। सत्य और असत्य का संघर्ष ही साहित्य है, और ये 'सत्य' और 'असत्य' सामाजिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होते हैं—उनकी कोई स्वतंत्र अमर सत्ता नहीं है। जैसा उन्होंने लिखा था—"सत्य' और 'असत्य' का संघर्ष रामायण और महाभारतकाल से लेकर बीसवीं सदी तक बराबर चला आता है और जब तक साहित्य की सृष्टि होती रहेगी, यह संघर्ष साहित्य का मुख्य आधार बना रहेगा। एक चिरंतन सत्य में संघर्ष असंभव है; संघर्ष उनमें होता है जो परिवर्तनशील है। इसलिए साहित्य का संबंध उस यथार्थ से है जिसने मनुष्य से जुदा कर रखा है और जो बदलन-

वाला है। यह जुदा करनेवाली वस्तु आदर्श नहीं है; इसीलिए उसे यथार्थ कह सकते हैं। और यहीं से प्रेमचंद में हम इन दोनों का संघर्ष देख सकते हैं।

साहित्य में जो प्रचलित यथार्थवाद है, उसकी प्रेमचंद ने अनेक स्थलों पर निंदा की है और साहित्यिकों को उससे बचने के लिये सचेत किया है। यथार्थवाद मनुष्य की दुर्बलताओं का चित्रण है और इस प्रकार का चित्रण मनुष्य को दुर्बलताओं की ही ओर ले जा सकता है। 'कायाकल्प' में चक्रधर कहता है—"यह मैं नहीं कहता कि तुमने जो कुछ लिखा है, वह यथार्थ नहीं है। उनकी (इच्छाओं और प्रवृत्तियों की) नग्न यथार्थता ही ने उन्हें इतना घृणित बना दिया है। यथार्थ का रूप अत्यंत भयंकर होता है, और हम यथार्थ को ही आदर्श मान लें, तो संसार नरक-तुल्य हो जाय।" एक भंयकर यथार्थ है, इससे नाहीं नहीं की जा सकती; अपने क्षेत्र में वह भी एक सत्य है। परंतु, साहित्य में तो हम एक आदर्श उपस्थित करते हैं; इस यथार्थ को हम आदर्श कैसे मान सकते हैं? आगे चक्रधर कहता है कि दुर्बलताओं की ओर मनुष्य का मन अपने आप दौड़ता है, उसे उधर दौड़ाने की जरूरत नहीं। अगर दुर्बलताओं का चित्रण किया जाय तो उनमें भी सत्य और सुंदर की खोज की जानी चाहिये। प्रेमचंद यहाँ तक मनौवैज्ञानिक सत्य के रूप में यह बात मान लेते हैं कि दुर्बलताओं के चित्रण से मनुष्य का मन उनकी ओर खिंचता ही है, इसकी विरोधी बात को कि दुर्बल को देख मनुष्य स्वयं सबल बनने की चेष्टा करता है, वह एकदम अस्वीकार करते हैं। फिर इसी का क्या सबूत कि दुर्बलताओं में सत्य और सुंदर को पाकर मनुष्य उस सत्य और सुन्दर को छोड़ दुर्बलताओं की ही ओर अधिक न झुकेगा? तब तो उसकी आत्मा को संतोष

होगा कि दुर्बलताओं के होते हुए भी कुछ अच्छाइयाँ उन्हीं के साथ लिपटी हुई उनके अंदर मौजूद हैं। साहित्य का ध्येय मनुष्य का पतन न होकर उत्थान ही है। एक ऐसा साहित्य भी हो सकता है जो नग्न यथार्थ का चित्रण करते हुए भी मनुष्य के उत्थान के लिये हो—इसकी ओर अभी प्रेमचंद ध्यान नहीं देते।

प्रेमचंद को यथार्थवाद से इसीलिए भय है कि वह भयंकर है और मनुष्य को पतन की ओर ले जानेवाला है। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य कमजोरियों का पुतला है और उसकी कमजोरियों का चित्रण उसके लिए घातक हो सकता है, उनके आदर्शवादी दृष्टिकोण का मूल कारण है। यदि हम किसी आदमी को उठाना चाहते हैं तो हमें चाहिए कि हम यह दिखावें कि वह कितना ऊपर उठ सकता है न कि वह कितना नीचे गिर सकता है या गिर चुका है। स्वभावतः जब हम साहित्य को कटु अनुभव के क्षेत्र से खींच ले जायेंगे, तो वह एक प्रकार का काल्पनिक स्वर्ग बन जायगा जहाँ हमारे संग्राम-भीरु हृदय को सांत्वना मिलेगी। यह कम आश्चर्य की बात नहीं कि प्रेमचंद ने इस काल्पनिक स्वर्ग की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। वह कहते हैं—"मानव-स्वभाव की एक विशेषता यह भी है कि वह जिस छल, क्षुद्रता, और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले—वह भूल जाय कि मैं चिंताओं के बंधन में पड़ा हुआ हूँ; जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में ख्याल होता है कि जब हमें किस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों

से साबका है, जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, तो फिर, ऐसी पुस्तक पढ़ें ही क्यों ?" काल्पनिक स्वर्ग के निर्माताओं की यह पुरानी दलील है कि मनुष्य साहित्य या कला में यथार्थ ही पुनरावृति नहीं देखना चाहता। इससे उल्टा दूसरा सिद्धांत है कि मनुष्य स्वभावत: साहित्य में यथार्थ की नकल करना चाहता है ; कुछ लोग तो कला की सृष्टि ही इस प्रवृत्ति से मानते हैं। दूर जाने की जरूरत नहीं, स्वयं प्रेमचंद ने लिखा है— "कला दीखती तो यथार्थ है; पर यथार्थ होती नहीं। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो।" इससे मालूम होता है कि कला यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करती है ; परंतु वह एक काल्पनिक स्वर्ग की रचना नहीं करती। यदि मनुष्य साहित्य में यथार्थ की पुनरावृत्ति नहीं चाहता, तो फिर यथार्थ का यह भ्रम खड़ा करने की क्या जरूरत है ? यथार्थ से भागनेवाले के लिए जैसे यथार्थ वैसे उसका भ्रम। बल्कि भ्रम से शायद उसे ज्यादा भय हो ; क्योंकि जीवित मनुष्य से मनुष्य का भूत ज्यादा भयकारी होता है।

वास्तव में कल्पनावादियों को यथार्थ के चित्रण से जो चिढ़ है, वह इसलिये नहीं कि कला में उसकी पुनरावृत्ति मनुष्य को भाती नहीं ; बल्कि इसलिये कि यथार्थ का सामना करने का उनमें साहस नहीं। शायद कोई कल्पनावादी इस बात को ईमानदारी के साथ स्वीकार न करेगा ; क्योंकि इससे उसकी कमजोरी साबित होती है। परंतु, प्रेमचंद के संघर्ष के कल्पनावाद के विरोधी तत्त्व ने उनसे इस कमजोरी को साहस के साथ स्वीकार कराया है। वह मानते हैं कि यथार्थ इतना कटु है कि हमें निराशा से बचने के लिये एक काल्पनिक स्वर्ग रचने की जरूरत होती ही है। "यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है, और चूँकि

संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग-धब्बे रहते हैं, इसलिये यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है, और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।"

इस निराशावाद से बचने के लिये आदर्शवाद की जरूरत पड़ती है। वास्तव में यथार्थ से भागने पर निराशा का रंग और गहरा ही हो जाता है; काल्पनिक स्वर्ग में दुबकने की आशा टिकाऊ नहीं होती। आशा तो संघर्ष से ही उत्पन्न होती है, जब हम लड़ते रहते हैं और आशा करते हैं कि आगे विजयी भी होंगे।

यहाँ पर आदर्शवाद को साहित्य में लाने के लिये प्रेमचंद यथार्थवाद की सहायता को जरूरी समझते हैं; लेकिन सिर्फ इसी हद तक कि पढ़नेवाला भुलावे में आ जाय और यह न जानने पाये कि लेखक सरासर झूठ बोलकर उसका मन बहला रहा है। इस आदर्शवाद और यथार्थवाद के संमिश्रण को वह 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहते हैं, जो हमें स्टैलिन के समय कुछ रूसी साहित्यिक आंदोलन की याद दिलाता है, जिनमें आदर्शवाद के साथ फिर समझौता किया गया है। लेखक मनुष्य की कमजोरियों का चित्रण करे; लेकिन हमेशा यह दिखावे कि उसने उनपर विजय पायी है। साहित्यकार हमारे भीतर सद्भावनाओं का संचार करें, इसके लिये जरूरत है कि उसके चरित्र Positive हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकावें; बल्कि उनको परास्त करें, जो वासनाओं के पंजे में न फँसें; बल्कि उनका दमन करें, जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजयनाद

करते हुए निकलें।" इस तरह यथार्थ की भयंकरता से प्रेमचंद समझौता करते हैं; भयंकर होने पर भी जब यह दिखाया जायगा कि आदर्शवाद उसकी गर्दन पर सवार है, तो लोगों का भय दूर हो जायगा और वे आदर्शवाद पर श्रद्धा करने लगेंगे।

एक तरह से प्रेमचंद ने यथार्थवाद को मनुष्य की कमजोरियों का पर्य्यायवाची मान लिया है। लेकिन, यथार्थ में सच्चे साधु पुरुष भी तो होते हैं जिनके अंदर कमजोरियों से अधिक शह-जोरियाँ होती हैं? अपनी ही व्याख्या से जैसे चिढ़कर वह पूछते हैं—क्या यथार्थता अपने क्षेत्र में समाज और व्यक्ति की पवित्र साधनाओं को नहीं ले सकती? एक विधवा के पतित जीवन की अपेक्षा, क्या उसके सेवामय, तपमय जीवन का चित्रण मंगल-कारी नहीं है? यह यथार्थ से दूसरा समझौता है; यथार्थ के भीतर आदर्श से जो कुछ मिलता-जुलता है, उसे हम लेने के लिए तैयार हैं; लेकिन आगे चलकर वह साहित्य में असुंदर को भी लेने के लिए तैयार हैं, इस शर्त पर कि सुंदर की सुंदरता बिगड़ने न पाये। यह वही पहले की बात है कि आदर्श को हमेशा यथार्थ की गर्दन पर सवार रखा जाय। असुंदर के सयोग से सुंदर और भी चमक उठता है। "साहित्य में असुंदर का प्रवेश केवल इसलिए होना चाहिये कि सुंदर को और भी सुंदर बनाया जा सके।" यथार्थवाद का ऊँट आदर्शवाद के तंबू में थोड़ी और गर्दन ढकेलता है। यथार्थवाद की नग्नता तो भयंकर होती है; लेकिन उसकी ओर यदि संकेत भर कर दिया जाय तो एक नया ही सौंदर्य पैदा हो जाता। 'कला संयम और संकेत में है। वही बात जो संकेतों और रहस्यों में आकर कविता बन जाती है; अपने स्पष्ट या नग्नरूप में वीभत्स हो जाती है।...... ऊषा की लाली में जो सौंदर्य है, वह सूरज के संपूर्ण प्रकाश में

हर्गिज नहीं।" लेकिन, जिंदा रहने के लिए ऊषा का प्रकाश ही काफी नहीं, हमें सूर्य के पूर्ण प्रकाश की भी जरूरत होती है। और कला का ध्येय जब तक मनुष्य का कल्याण है तब तक वह गुलाबी संकेतों से संतुष्ट नहीं रह सकती।

सुंदर और असुंदर का भेद तो वास्तव में मनुष्य के दृष्टि-कोण पर निर्भर है। खोजनेवाले के लिए वीभत्स में सुंदर और सत्य मौजूद हैं। आगे चलकर इस वीभत्स का चित्रण ही कला का लक्ष्य बन जाता है। अपने आदर्शवादी रूप को लक्ष्य कर प्रेमचंद कहते हैं—"उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौंदर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नता में भी सौंदर्य का अस्तित्व संभव है, इसे कदाचित् वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौंदर्य सुंदर स्त्री-रूप में है—उस बच्चोंवाली गरीब रूपरहित स्त्री में नहीं, जो बच्चे को खेत की मेड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है। उसने निश्चय कर लिया है कि रंग, होठों, कपोलों और भौंहों में निस्संदेह सुंदरता का वास है,—उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियाँ पड़े हुए होठों और कुम्हलाये हुए गालों में सौंदर्य का प्रवेश कहाँ ?" लेकिन जीवन में इसी गरीबी और भोड़ेपन से हम परेशान रहते हैं; साहित्य में उसकी पुनरावृत्ति देखकर हम चिढ़ेंगे नहीं ? क्या उससे हमारा मनोरंजन संभव है ? जो मेहनत करते हैं उनके गाल सूखे हैं, ओठों पर पपड़ियाँ पड़ी हैं और जो उनकी कमाई से महल में बैठे मौज करते हैं, उनके गालों और ओठों पर रंगीनी है—क्या यह चित्र हमें निराश न बना देगा ? क्या साहित्यकार को यह न दिखाना चाहिए कि मेहनत करने पर रंगीनी इन गरीबों के ही चेहरे पर है और महल में आराम करनेवाली के गाल सूख गये हैं ? क्या आदर्शवाद की रक्षा ऐसे ही चित्रण से

न होगी और आदर्शवादी दृष्टिकोण से क्या उन्नति भी इसी मार्ग से संभव नहीं है? आदर्शवादी की उन्नति वास्तव में अवनति है; यथार्थ से भागकर काल्पनिक स्वर्ग में शरण लेने-वाले आशावाद का जोरों से खंडन करते हुए प्रेमचंद कहते हैं—"उन्नति से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है जिससे हममें दृढ़ता और कर्मशक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमें दुःखावस्था की अनुभूति हो, हम देखें कि किन अंतर्बाह्य कारणों से हम इस निर्जीवता और ह्रास की अवस्था को पहुँच गये, और उन्हें दूर करने की कोशिश करें।" साहित्य का यह लक्ष्य मान्य और हमारी चेष्टाओं को अपनी ओर केंद्रित करने योग्य है। साथ ही वह प्रेमचंद के आदर्श और यथार्थ के संघर्ष को भी भलीभाँति स्पष्ट कर देता है।

आदर्श और यथार्थ के संघर्ष से मिलता-जुलता हृदय और मस्तिष्क तथा कला और उपयोगिता का झगड़ा है। प्रेमचंद बुद्धिवाद से साहित्य को वैसे ही बचाना चाहते हैं जैसे उसे यथार्थवाद से। इसका कारण भी बहुत कुछ वही पुराना भय है कि बुद्धिवाद उन्हें संसार के कटु सत्यों का सामना करने के लिए बाध्य करेगा। वह कहते हैं—"सच पूछिए तो कला और साहित्य बुद्धिवाद के लिए उपयुक्त ही नहीं। साहित्य तो भावुकता की वस्तु है, बुद्धिवाद की यहाँ इतनी ही जरूरत है कि भावुकता बे-लगाम होकर दौड़ने न पाये।"—साहित्य में भावुकता एक बहुत सस्ती चीज है, जिसका अभाव ही आजकल साहित्य को ऊँचा बनाता है। जो चीज मीठी-मीठी दिल को लुभानेवाली लिखी जाती है, उसे बचकानी कहकर हम टाल देते हैं। लेकिन, प्रेमचंद का मतलब इस सस्ती भावुकता से नहीं। वे भावुकता के अंतर्गत मनुष्य की उन सभी प्रवृत्तियों को लेते हैं जो व्यक्तिगत स्वार्थ से

रहित पूरे समाज के हित के लिए हैं। भावुकता की श्रेष्ठता दिखाने का वह एक विचित्र उदाहरण देते हैं। मान लीजिए, एक स्त्री को कुछ लंपटों ने घेर लिया और आप अकेले उसकी रक्षा नहीं कर सकते। यहाँ बुद्धिवाद कहेगा, अकेले पाँच से कैसे जीतोगे, चलो भाग चलें। लेकिन भावुकता कहेगी, एक स्त्री की रक्षा करना तुम्हारा धर्म है—चाहे प्राण चले जायँ; लेकिन उसे इन दुष्टों के हाथ से बचाना होगा। ऐसी परिस्थिति में भावुकता मनुष्यता है; बुद्धिवाद वहाँ कायरता बन जाता है। प्रेमचंद भावुकता का संबंध हृदय से मानते हैं। और, मनुष्य के हृदय में सत्कर्म की प्रेरणा स्वभावतः मौजूद है। इसलिए जब वह भावुकता का सहारा लेगा, तो अवश्य सत्कर्म की ओर प्रेरित होगा। वास्तव में यदि वीरता का भाव हृदय से उत्पन्न होता है, तो वहीं से कायरता के भाव की भी उत्पत्ति माननी होगी। एक ही के लिये हृदय उत्तरदायी नहीं हो सकता। ऊपर के उदाहरण के विपरीत हमारे सामने बैरगिया नाला के ठगों की कथा है। वहाँ भावुकता से कथ्थक दुःसाहसी न हुए, वरन् बुद्धि से काम लेकर एक-एक पर तीन-तीन मिलकर वार करने लगे और इस तरह से बुद्धि द्वारा विजयी हुए। प्रेमचंद को बुद्धिवाद से इसलिए भय नहीं है कि वह कायरता है, वरन् इसलिए कि वह उनके आदर्शवाद की भावुक कल्पना को ढहा देता है।

जब साहित्य हृदय की वस्तु हो जाता है, तो उसका ध्येय भी आनंद उत्पन्न करना रह जाता है। साहित्य से रस की सृष्टि, उसका ध्येय आनंदमात्र होना, प्रेमचंद की 'भारतीयता का प्रमाण है। विदेश में भी रोमांटिक कवियों ने साहित्य का ध्येय आनंद माना है, और जब उपयोगितावादियों से संघर्ष हुआ है, तो उन्होंने आनंद की ही उपयोगिता सिद्ध की है। साहित्य का आनंद ही

मनुष्य को मनुष्य बनाता है और उसे सत्कार्यों की ओर प्रेरित करता है। इसका एक उदाहरण शेली की 'डिफेंस ऑफ पोएज़ी' में है। एक जगह प्रेमचंद कहते हैं सत्य से मनुष्य का तीन प्रकार का संबंध होता है। एक जिज्ञासा का, जो दर्शन का विषय है, दूसरा प्रयोजन का, जो विज्ञान का विषय है और तीसरा आनंद का, जो साहित्य का विषय है। सत्य की उपयोगिता, इस तरह विज्ञान का विषय बन जाती है। जहाँ साहित्य में प्रयोजन होगा, वहाँ वह उतना ही वैज्ञानिक और भावुकता से रहित होगा। उसका संबंध हृदय से न होकर मस्तिष्क से जुड़ जायगा। परंतु, बाद में वह इसी आनंद में उपयोगिता की भी खोज करते हैं। उपयोगिता का प्रश्न जब एक रोमांटिक को बुरी तरह झकझोरता है तब तक आनंद को ही उपयोगी सिद्ध करने की चेष्टा करता है। उसी तरह प्रेमचंद भी कहते हैं—"मुझे यह कहने में हिचक नहीं है कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निस्संदेह कला का उद्देश्य सौंदर्य-वृत्ति की पुष्टि करता है और वह हमारे आध्यात्मिक आनंद की कुंजी है। पर, ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनंद नहीं, जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनंद स्वतः एक उपयोगिता-युक्त वस्तु है, और उपयोगिता की दृष्टि से एक ही वस्तु से हमें सुख भी होता है और दुःख भी।...प्रकृति का विधान वृद्धि और विकास है, और जिन भावों, अनुभूतियों और विचारों से हमें आनंद मिलता है, वे इसी वृद्धि और विकास के सहायक हैं। कलाकार अपनी कला से सौंदर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के उपयोगी बनाता है।" बात वही पुरानी है—"आनंद हममें आगे बढ़ने और विकसित होने की क्षमता उत्पन्न करता है। मनुष्य को कर्म के

लिए प्रेरणा हृदय से मिलती है; आनंद इस प्रेरणा-केंद्र को भी प्रभावित करता है, और इसलिए मनुष्य में सत्प्रेरणाओं का भी जन्म होता है। उदाहरण के लिए तुलसीदास की रामायण का आनंद ले एक व्यक्ति राजनीति के समर में कूद सकता है; क्योंकि साहित्यिक आनंद उसके अंदर दूसरों के दुःख समझने की क्षमता और उन्हें दूर करने का साहस उत्पन्न करता है।"

साहित्य का मुख्य ध्येय अब भी आनंद उत्पन्न करना ही है—उपयोगिता उसी के साथ गौण रूप से आती है। लेकिन, साहित्य के प्रति जैसे प्रेमचंद का दृष्टिकोण आदर्शवादी ही न रह यथार्थवादी भी हुआ, वैसे ही उपयोगिता आनंद की भावना को नहीं, वरन् उपयोगिता की भावना को उत्तरदायी बताते हैं। "साहित्य का जन्म उपयोगिता की भावना का ऋणी है। जो चतुर कलाकार है, वह उपयोगिता को गुप्त रखने में सफल होता है, जो इतना चतुर नहीं है, वह उपदेशक बन जाता है और अपनी हँसी उड़वाता है।" साहित्य में उपयोगिता छिपाई जाती है तो इसलिए कि साहित्य अधिक उपयोगी हो सके। उपयोगिता अपने निरावरण रूप में लोगों को चौंका देगी; इसलिए उसे आनंद के वस्त्र पहनाना जरूरी है। फिर जैसे यथार्थ और जीवन के संघर्ष को प्रेमचंद ने जोरदार शब्दों में साहित्य का ध्येय घोषित किया था वैसे ही वह साहित्य की सिद्धि आनंद से नहीं, उपयोगिता के सूत्र से करते हैं। वह कहते हैं—"मेरा पक्का मत है कि परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सभी कला उपयोगिता के सामने घुटने टेकती है। प्रोपेगेंडा बदनाम शब्द है; लेकिन आज का विचारोत्पादक, बलदायक, स्वास्थ्यवर्द्धक साहित्य प्रोपेगेंडा के सिवा न कुछ है, न हो सकता है, न होना चाहिए, और इस तरह के प्रोपेगेंडा के लिए साहित्य से प्रभावशाली कोई साधन ब्रह्मा ने नहीं

रचा।" आखिर पलड़ा ही उलट गया। यही नहीं कि साहित्य का ध्येय प्रचार है, अपितु प्रचार का वह सर्वश्रेष्ठ साधन भी है।

ऊपर दिये गये उद्धरणों से प्रेमचंद का संघर्ष भली भाँति समझ में आ जाना चाहिए। एक ओर उनमें बीते युग की आदर्शवादी भावना है जो ठीक-ठीक बुद्धिवादी दृष्टिकोण से यथार्थ का सामना करने से हिचकती है; दूसरी ओर उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण है जो सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर तीव्र प्रकाश डाल, उसकी वीभत्स नग्नता को हमारे सामने ला खड़ा करता है। इसी कारण वह पुराने युग की विचार-धारा से प्रभावित होते हुए भी नये युग के साथ हैं। उनकी गिनती उन लेखकों में है, जो एक युग की भावना को अपने भीतर केंद्रित कर दूसरे युग के लिए मार्ग प्रशस्त कर जाते हैं। अपने आदर्शवाद के कारण कहीं-कहीं वह समस्याओं का उचित निराकरण नहीं कर पाते; उनकी भावुकता उन्हें एक कल्पित समझौता ढूँढ़ निकालने के लिए बाध्य करती है। कहीं-कहीं समस्याओं को उनकी पूरी जटिलता के साथ वह पेश भी नहीं करते। परंतु, यह दूसरा दोष, जो आदर्शवादी लेखकों की खास कमजोरी है, प्रेमचंद पर सबसे कम आरोपित किया जा सकता है। वास्तव में उनका आदर्शवाद उनकी बुद्धि का परिणाम था—बुद्धिवाद का एक परिवर्तित रूप। जिस बुद्धिवाद से उन्हें भय था, और जिससे वह साहित्य की रक्षा करना चाहते थे, वही आदर्शवाद के विकृत रूप में उनकी रचनाओं में प्रकट हुआ है। उनकी आंतरिक मनोवृत्ति यथार्थवाद की ओर थी। इसका प्रमाण यह है कि अन्य आदर्शवादियों की भाँति उन्होंने एक निश्चित परिणाम की सिद्धि के लिए अपने आधार को ही नहीं तोड़ा-मरोड़ा, उदाहरण के लिए यदि वह किसान और जमींदारों में वर्ग-संघर्ष

नहीं चाहते थे, वरन् सोचते थे कि उनमें समझौता हो जायगा ; तो इसलिए उन्होंने किसानों पर जमींदारों के अत्याचारों को कम करके नहीं दिखाया। आर्थिक शोषण का यथार्थ चित्रण, उसकी पूर्ण भयानकता के साथ उन्होंने किया है। दूसरा आदर्शवादी लेखक अपना निश्चित परिणाम सिद्ध करने के लिए यथार्थ के आधार को ही विकृत कर देता।

प्रेमचंद की रचनाओं में अध्ययन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण यही समस्याएँ हैं। हमारे जीवन का शायद ही कोई पहलू छूटा हो, जिसकी गुत्थियों को प्रेमचंद ने सुलझाने की चेष्टा न की हो। हम उनके परिणामों से सहमत न हों ; लेकिन नये युक्तिसंगत परिणाम निकालने के लिए यहाँ से अधिक यथार्थ आधार अभी दूसरी जगह न मिलेंगे। प्रेमचंद भारतीय जीवन के भिन्न-भिन्न अंगों से परिचित थे, और उनका-सा परिचय हमें अन्य किसी भी भारतीय साहित्यिक की कृतियों में नहीं मिलता, नये प्रगतिशील लेखक साहित्य में अपने मार्क्सवादी सिद्धांत प्रतिपादित कर रहे हैं ; लेकिन जितना सुबोध उनके लिए समस्या का परिणाम है, उतनी समस्या नहीं। सामाजिक और राजनीतिक जीवन के विभिन्न अंगों से अभी उन्हें यह परिचय नहीं प्राप्त हुआ, जो प्रेमचंद की कृतियों में मिलता है। इसीलिए, यथार्थवाद का एक विशिष्ट आवरण पहने हुए भी ये नये लेखक वास्तव में प्रेमचंद से अधिक आदर्शवादी हैं। प्रेमचंद ने हमारे जीवन की समस्याओं की छानबीन की है—जीवन की कटुता का सामना किया है, इस लिए निराशावादी न होकर जब वह हमारे सामने एक आदर्श रखते हैं, तब रूखे से रूखे आलोचक के निकट भी उनका आदर्शवाद क्षम्य हो जाता है। नये लेखकों को प्रेमचंद से सीखना है कि जीवन के कितने अंगों का विस्तृत ज्ञान उन्हें प्राप्त

करना है, और परिणाम नहीं, तो कम से कम समस्या को किस प्रकार यथार्थवादी ढंग से साहित्य में पेश करना चाहिए। क्योंकि प्रेमचंद का आदर्शवाद उनकी कृतियों के एक ही पहलू को बिगाड़ता है—वह है समस्या से एक सुंदर परिणाम निकालनेवाला; परंतु उनके अंतर में बसा हुआ यथार्थवादी समस्या की जटिलता चित्रित करने में बहुत कम मेल-मुलाहिजा करता है। जहाँ उनका आदर्शवाद दब गया है और उन्होंने बरबस परिणाम ढूँढ़ने का प्रयत्न नहीं किया, या समस्या को ही सामने रखकर संतोष कर लिया है, वहाँ वे अद्वितीय हैं।

समाज के जिन-जिन अंगों पर प्रेमचंद ने प्रकाश डाला है, उनका अध्ययन करना अपने सारे सामाजिक जीवन का ही अध्ययन करना है। उनकी कृतियों की विवेचना से हम समस्याओं से ही परिचित न होंगे, वरन् परिणाम खोजने में उनकी अतार्किकता और आदर्शवादी दृष्टिकोण को समझकर आगे के लिए सचेत भी हो सकेंगे।

—डा० रामविलास शर्मा

प्रेमचंद की कृति

हिंदी-साहित्य में प्रेमचंदजी का स्थान निर्द्धारित करना भावी पीढ़ियों का काम है। आज हम उनके इतने निकट हैं कि उन्हें अच्छी तरह देख नहीं सकते। उनके व्यक्तित्व की छाप हमारे हृदय पर ऐसी लगी है कि केवल साहित्य की दृष्टि से उन्हें देखना संभव नहीं हो रहा है। वह व्यक्तित्व सहसा हमारे सामने से गायब हो गया है और हम उसकी स्मृति से प्रभावित हो रहे हैं। यह अवस्था साहित्यिक पर्यालोचन के लिये अनुकूल नहीं। प्रेमचंद के व्यक्तित्व से सर्वथा अपरिचित साहित्यिक ही हिंदी वाङ्मय में उनका स्थान निर्द्धारित कर सकेंगे। आज हमारी प्रवृत्ति आलोचन की नहीं; बल्कि गुण-ग्रहण की है। उनके स्वर्गारोहण के बाद आज हम उनके गुण ही गुण देख रहे हैं, और पश्चात्ताप करते हैं कि उनके जीवनकाल में हम उनका महत्त्व न समझ सके और न कदर कर सके। यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है; पर साहित्यिक गुण-दोष-विवेचन में बाधक है। यही कारण है कि हिंदी में प्रेमचंद का स्थान निर्द्धारित करने में प्रेमचंद के समकालीन साहित्यिक समर्थ नहीं हो सकते। एक कारण और भी है। जो

प्रवाह में बहता जाता है, वह उसकी गति का निरीक्षक नहीं हो सकता ; यह तो तटस्थ ही कर सकता है। यद्यपि साहित्य में प्रेमचंद का स्थान हम निर्द्धारित नहीं कर सकते ; पर रग-रग में अनुभव करते हैं कि उनके प्रवाह में हम बहे चले जा रहे हैं। कहा जा सकता है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र ने साहित्यिक हिंदी का नामकरण किया और प्रेमचंद ने उसको मूर्त्त किया—रूप प्रदान किया। इन दो महानुभावों की प्रतिभा से हिंदी को नाम और रूप प्राप्त हो गया है। हरिश्चंद्र के प्रयत्न से हिंदी वह हिंदी हुई, जिसे आज हम हिंदी समझते हैं और आदर करते हैं। पर हरिश्चंद्र उसे वह रूप न दे सके जिसे हिंदी की समकालीन भाषाओं के अभिमानी भी देख सकते। यह काम प्रेमचंद ने किया। वह स्थायी है अथवा अस्थायी, दिन-प्रतिदिन अधिकतर स्पष्ट होनेवाला है अथवा किसी अन्य लेखनी से अन्य रूप को जन्म देकर स्वयं अस्पष्ट हो जानेवाला है, इसका निर्णय भविष्य ही करेगा।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने हिंदी का नामकरण किया, उत्तर भारत के हिंदू में उसके प्रति अभिमान उत्पन्न किया ; पर उनके बाद उनका पदानुसरण करनेवालों को भाषा का आदर्श अन्यत्र ढूँढ़ना पड़ता था। हरिश्चंद्र के समकालीन और परवर्ती लेखक ब्रज-साहित्य और रामचरितमानस से प्रभावित थे, कुछ पर संस्कृत-साहित्य का भी अच्छा प्रभाव पड़ा था। स्वर्गीय गुरुवर्य पंडित गोविंदनारायण मिश्र की रचनाओं में बाणभट्ट की शैली प्रतिबिंबित हो रही है। वही ओज, वही ध्वनि,वही रचना-कौशल। कादंबरी के ढंग पर आप हिंदी में भी एक प्रबंध की रचना कर रहे थे। कुछ अंश लिखा भी जा चुका था, पर उपन्यास पूरा न हो सका। पूरा इसलिए न हो सका कि गोविंदनारायणजी जीवन के अन्य झगड़ों में व्यस्त रहा करते थे और उनके साहित्य

का जीवन से कोई संबंध नहीं था। राजा लक्ष्मण सिंह, पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित अंबिकादत्त व्यास आदि, हरिश्चंद्र के बाद के, पर हमारे लिए अब प्राचीन, सब साहित्यिकों के संबंध में यही कहा जा सकता है। उनका जीवन कुछ और साहित्य कुछ और था। प्राचीन पद्धतियों का अनुसरण और प्राचीन समयों का रक्षण, यही उनके लिए साहित्य था। उस साहित्य का समाज से या जीवन से कोई संबंध न था। अतः हिंदी के साधारण लेखकों को जीवन-साहित्य का आदर्श पड़ोसी बंगला साहित्य में ढूढ़ना पड़ता था, जो दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करता जा रहा था। जीवन के प्रश्नों का, सामाजिक समस्याओं का, राजनीतिक कठिनाइयों का हल उस समय के लेखक बंगला साहित्य में ढूँढ़ा करते थे। विशेषकर हिंदी के समाचार-पत्र तो अधिकतर बंगला समाचार-पत्रों की ही नकल हुआ करते थे—अधिकांश में केवल अनुवाद। परिणाम यह हुआ कि हरिश्चंद्र के बाद की हिंदी बँगला हिंदी हो गयी। उसे पुनश्च हिंदी बनाने का श्रेय प्रेमचंद को ही है।

प्रेमचंद की हिन्दी हिन्द की अपनी चीज है। उसपर उर्दू की छाया जरूर पड़ी है, पर उर्दू भी तो हिन्द की ही भाषा है; किसी अन्य देश से यहाँ नहीं आयी है। उर्दू लेखकों में अच्छा स्थान प्राप्त कर लेने के बाद प्रेमचन्द का हिन्दी को अपने विचार प्रकट करने का माध्यम बनाना उस सत्साहस का काम था, जिसका उनके जीवन में पद-पद पर परिचय मिलता है। उनकी प्रारम्भिक कृतियों में हिन्दी भाषा अप्रौढ़ और शिथिल अवश्य थी, पर शीघ्र ही उसमें वह तेजस्विता और सरलता, वह भाव-व्यंजकता और माधुरी आ गयी, जो हिन्दी-साहित्य में एक नयी बात थी। इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द प्रकृति के पुत्र थे, उनकी प्रतिभा नैसर्गिक थी, साहित्य का आदर्श उन्हें निर्माण करना था, न कि

अन्य आदर्श को सम्मुख रखकर उसका अनुकरण करना था। प्रेमचन्द के पात्र अपने थे, भाषा अपनी थी, कल्पना अपनी थी। विचार और सहानुभूति संसार के उन्नतिशील साहित्य के अध्ययन का फल था। यही कारण है कि उन्होंने जो कुछ लिखा, मौलिक लिखा और उसकी प्रेरणा उन्हें समाज से हुई—विशेषकर ग्रामीण समाज से। इस संबंध में हम प्रेमचंद की तुलना इंग्लैंड के चार्ल्स डिकेंस से कर सकते हैं। डिकेंस और प्रेमचंद दोनों ही जनता के आदमी थे। समाज के निम्न स्तर की भीषणता में रह चुके थे, उससे परिचित हो चुके थे, उसके साथ उनकी सहानुभूति थी, उसी से उन्होंने अपने पात्र लिये और उसी के सुधारने का यत्न किया। दोनों ही संकुचित अर्थ में 'अशिक्षित' थे, अर्थात् प्राचीन साहित्य की और उसके नियमों की शिक्षा उन्हें नहीं मिली थी। दोनों की प्रतिभा स्वाभाविक थी, दोनों ही जनता के आदमी थे। मध्यम और उच्च वर्ग के पात्र का चित्रण न डिकेंस कर सके और न प्रेमचंद ही कर सके। यत्न दोनों ने ही किये हैं पर विफल। गरीब पात्र दोनों के सजीव हैं; वे आपसे बोलते हैं, आपके साथ हँसते और आपके साथ रोते हैं। ओलिवर ट्विस्ट से बिदा लेते समय जो एक मधुर वेदना होती है, होरी से बिदा लेते वक्त हमें उसी का अनुभव हुआ। डिकेंस और प्रेमचंद का साम्य यहीं समाप्त हो जाता है। इसके बाद दोनों के मार्ग दो भिन्न दिशाओं को जाते हैं। एक आशावादी है; दूसरा दु:ख में है, दु:ख देखता है और उसे दूर करने का उपाय ढूँढ़ता है, कहीं कुछ बता भी जाता है, कहीं केवल समस्या उपस्थित करके अपनी कहानी के धागे आप ही तोड़कर मानो अपनी जान छुड़ा लेता है।

यह प्रेमचंद का दोष नहीं बल्कि गुण है। समय का प्रतिबिंब उनके हृदय पर स्पष्ट हो रहा है। मूक जनता की आह वह सुनते

हैं और सुना जाते हैं पर इसकी दवा नहीं बताते—शायद नहीं जानते। कौन जानता है? सब अपनी-अपनी कह रहे हैं पर भविष्य के परदे के उस पार क्या है, यह बतानेवाला ऋषि कौन है? एक महात्मा गाँधी दिखाई देते हैं और स्वभावत: प्रेमचंद उनकी ओर आकृष्ट हो गये। गरीबों के प्रति सहानुभूति और भारतीय संस्कृति का अभिमान, ये दो विशेषताएँ प्रेमचंद में बहुत अधिक मात्रा में मिलती हैं, और यह भी समय का प्रभाव है। प्रेमचंद समय से प्रभावित हुए हैं। साहित्यकार की यह विशेषता है। समय को प्रभावित करनेवाला ऋषि, अवतार या पैगंबर कहलाता। प्रेमचंद के लिए इसका दावा उनका अंधभक्त भी नहीं कर सकता। प्रेमचंद साहित्यिक थे और ऊँचे दर्जे के साहित्यिक थे। जीवन से उन्होंने मसाला लिया और वह मूर्तियाँ तैयार करके हमारे सामने रख दीं जो जीवन के अंगों की प्रतीक हैं। उन मूर्तियों में हम समाज को देखते हैं, उसकी आकांक्षाओं की कल्पना करते हैं, उसके दोषों पर हँसते हैं, उसकी त्रुटियों की ओर भी लाचार खिंच जाते हैं। यही प्रेमचंद की कला है। वह हमें अपनी बुराइयों को दिखाती है पर चिढ़ाती नहीं। हँसा-खिलाकर और रुलाकर भी आत्म-सुधार की आवश्यकता बताती है। गरीबों के मित्र प्रेमचंद ने धनी निकम्मों की निंदा की है, पर ऐसे शब्दों में और इस ढंग से की है कि उसे पढ़कर धनी भी क्रुद्ध नहीं हो सकता, लज्जित होता है। इसका एक कारण है। प्रेमचंद के पात्र व्यक्ति नहीं होते, वे वर्गों के प्रतीक होते हैं। कोई व्यक्ति हो तो उससे प्रेम भी किया जा सकता है, ईर्षा भी की जा सकती है, घृणा और क्रोध भी। पर वर्ग के प्रतीक के सामने ये भावनाएँ कुंठित हो जाती हैं। हम उसे पड़ोसी में देखते हैं, अपने चारों ओर देखते हैं, पर अपने आप में नहीं

देखते। अतः वह हमारा आदर पाता है, हमें अचंभे में डालता है, रुलाता है, हँसाता है। बुरा होने पर भी हम उसे छोड़ना नहीं चाहते। इसका कारण यही है कि प्रेमचंद के पात्र व्यक्ति नहीं, वर्ग हैं। वर्ग के दोष-गुण उनमें पाये जाते हैं, अतएव हमारा व्यक्तित्व उनसे अपने आपको अलग समझता है। उन पात्रों से हमारी सहानुभूति होती है, समवेदना होती है, पर एकत्व की प्रतीति नहीं होती। उनके दोष हम समाज में देखते हैं, पर स्वयम् उनसे उसी प्रकार अलिप्त रह जाते हैं, जैसे समाज का होकर भी एक सुधारक अपने आपको उससे अलग समझकर उसका टीकाकार—आलोचक बन जाता है। अनेक आलोचकों का यह अभियोग है कि प्रेमचंद के पात्रों का व्यक्तित्व अच्छी तरह परिस्फुट नहीं होता, वह अधखिला फूल-सा रह जाता है। इसका उत्तर यही है कि उनके पात्र व्यक्ति होते ही नहीं, वर्ग के प्रतीक होते हैं। वर्ग के दोषगुण उनमें भलीभाँति दिखाई देते हैं और किसी भी प्रसंग पर वे वर्ग-मनोवृत्ति से ही काम करते हैं। उनमें विशेष व्यक्तित्व को ढूँढ़ना व्यर्थ है। प्रेमचंद की विशेषता का कारण यह है कि वे पहले सुधारक और बाद कलाकार हैं। प्रेमचंद ने कला के लिए पात्र-सृजन नहीं किया है; कला की खूँटी पर अपने सुधारक विचारों को टाँग दिया है। उनके अंतिम उपन्यास 'गोदान' में इसका अच्छा परिचय मिलता है। 'गोदान' प्रेमचंद का अंतिम गोदान है—उनके अपने व्यक्तित्व का, अभिलाषाओं और विचारों का आदर्श है।

'गोदान' का होरी गरीब स्थिति के किसान का प्रतीक है; उसका व्यक्तित्व उस वर्ग का व्यक्तित्व है। परिश्रमी है, कुटुम्ब-वत्सल है और धर्मभीरु भी है। लाठी लेकर बाघ का सामना कर सकता है, पर लाल पगड़ी देखते ही उसका सारा पुरुषत्व हवा हो

जाता है। पराधीनता में अच्छे-अच्छे पुरुषों की जो स्थिति होती है, वही होरी की भी है। वह धर्मभीरु है सामाजिक दृष्टि से, पर नर को नारायण बनानेवाला धर्म उसमें नहीं। अपने सगे भाई के हिस्से के दो-चार रुपए दबा जाने के लिए वह तीसरे को अधिक लाभ दे सकता है पर उसी भाई के घर की तलाशी पुलिस ले यह बात उसे असह्य हो जाती है; क्योंकि इसमें कुल का अपमान है। इस अपमान से, इस कलंक से कुल को बचाने के लिए वह स्वयम् महाजन से कर्ज ले सकता है। वही भाई जब उसकी गाय की हत्या करके भाग जाता है तो वह अपनी खेती की उपेक्षा करके उसकी खेती कर देता है, जिसमें लोग यह न कहें कि अनाथा भावज की सहायता उसने नहीं की। एक ओर भाई और भावज के लिए इतना त्याग और दूसरी ओर उसी भाई को दो-चार रुपये के लिए ठगने की तैयारी! आजकल के समाज का कैसा यथार्थ चित्र है! यह चित्र ही होरी है। होरी वर्ग है, व्यक्ति नहीं। आज भारतीय समाज में झूठ बोलना, फरेब करना, ठगना, बुरा नहीं समझा जाता। होरी भी नहीं समझता। भाई-भाई में भयंकर झगड़ा हो, कोई चिंता नहीं। भाई का खून भी भाई कर सकता है। उसकी सम्पत्ति भी हजम कर सकता है; पर जब तक वह बालक है, तब तक उसका पालन करना ही होगा, नहीं तो समाज निंदा करेगा। सामाजिक व्यवहार धूम-धाम से होना ही चाहिए; इसी में कुल की मर्यादा है। व्यक्तिगत आचरण कैसा ही घृणित क्यों न हो, बुरा या पाप नहीं समझा जाता। पैतृक परिवार की कल्पना अब भी काम कर रही है। व्यक्तिगत सद्गुणों का लोप हो गया है। सामाजिक सदाचार विकृत रूप में जीवित है, व्यक्तिगत सदाचार का बिलकुल लोप हो गया है। होरी में इसका चित्र खींचा गया है। शायद प्रेमचंद

का यह उद्देश्य न हो, पर वह तो वर्ग को ही देखते थे और समझते थे। होरी ऐसा ही एक पात्र है। उसमें और भी विशेषताएँ हैं, पर वे भी उसका व्यक्तित्व परिस्फुट नहीं करतीं। होरी व्यक्ति हमारे सामने उपस्थित नहीं होता, वह वर्ग उपस्थित होता है जिसके होरी, हीरा और भोला प्रतीक हैं। होरी का लड़का गोबर, शुरू-शुरू में एक व्यक्ति-सा मालूम होता है सही, पर अंत में वह भी वर्ग में लुप्त हो जाता है। पाठक उसमें गरीब और अजान, शोषित और अभिमानी वर्ग को देखते हैं और उसके लिए समवेदना का अनुभव भी करते हैं।

जिस विकृत धर्म का ऊपर उल्लेख किया गया है उसका एक जगह 'गोदान' में प्रेमचंद ने स्पष्ट शब्दों में परिचय दिया है। मातादीन ब्राह्मण-पुत्र है। उसकी आशनाई एक चमारिन से हो गयी है। यह बात सारा गाँव जानता है, पर मातादीन के पास पैसा है, वह सबेरे स्नान-संध्या और पूजा करता है, और चमारिन को अपने घर में नहीं, अन्यत्र रखता है। उसके हाथ का खाता भी नहीं। अतः वह समाज का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति है। उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। क्यों ?—सुनिये प्रेमचंदजी के ही शब्दों में—'हमारा धर्म है हमारा भोजन। भोजन पवित्र रहे, फिर हमारे धर्म पर कोई आँच नहीं आ सकती। रोटियाँ ढाल बनकर अधर्म से हमारी रक्षा करती हैं।' स्थिति का कैसा सच्चा वर्णन है ? पर इसमें एक त्रुटि है। रोटियों की इस ढाल की आवश्यकता भी ग्रामों में ही होती है। शहरों में इसकी भी जरूरत नहीं। सब अपराध माफ हैं बशर्ते कि आप ब्याह-शादी में समाज की रीतियों का पालन करते रहें और सुधारकों को गालियाँ दें। चमारिन से आशनाई कीजिये या घर की ही किसी विधवा का सर्वनाश करके उसे घर से निकाल दीजिये, आप

धर्मात्मा ही समझे जायँगे। ऐसे धर्म के मूल में कुठाराघात करके सदाचारमूलक धर्म की पुनः स्थापना करना प्रेमचंद-साहित्य का लक्ष्य है। अपना यह अभिप्राय वह कहीं स्पष्ट शब्दों में पर सर्वत्र व्यंजना से वा ध्वनि से व्यक्त करते पाये जाते हैं। प्रेमचंद सुधारक अवश्य हैं, पर उसके साथ-साथ भारतीय संस्कृति के पूर्ण भक्त भी हैं। उनके सुधार का अर्थ पश्चिम का अन्ध अनुकरण नहीं है। 'गोदान' उनकी अंतिम कृति है। यह उपन्यास लिखते समय आप पाश्चात्य साम्यवाद का भी अध्ययन कर चुके हैं, जिसकी झलक इस ग्रंथ में सर्वत्र दिखाई देती है। फिर भी आप उसका अनुकरण नहीं कर रहे हैं। कहीं अपने पात्रों के मुँह से उसपर टीका भी कराते हैं। यही बात स्त्री-शिक्षा और पारिवारिक—वैवाहिक जीवन के संबंध में भी है। सर्वत्र उनका आदर्श भारतीय संस्कृति है, पश्चिम का अनुकरण नहीं। स्त्रियों के पुरुषों के समान अधिकार पाने के दावे का उत्तर प्रेमचंद ने दर्शनाचार्य मि० मेहता के मुँह से दिलाया है। स्त्रियों के साथ पुरुषों ने अन्याय किया है, इस बात को स्वीकार करके मि० मेहता कहते हैं—"अन्याय को मिटाइये, पर अपने को मिटाकर नहीं।" और भी—"संसार में सबसे बड़े अधिकार सेवा और त्याग से मिलते हैं और वह आपको (स्त्रियों को) मिले हुए हैं। .... मुझे खेद है, हमारी बहनें पश्चिम का आदर्श ले रही है, जहाँ नारी ने अपना पद खो दिया है और स्वामिनी से गिरकर विलास की वस्तु बन गयी है। पश्चिम की स्त्री स्वच्छन्द होना चाहती है, इसलिए कि वह अधिक से अधिक विलास कर सके। हमारी माताओं का आदर्श कभी विलास नहीं रहा। उन्होंने केवल सेवा के आदर्श से सदैव गृहस्थी का संचालन किया है। पश्चिम में जो चीजें अच्छी हैं वे लीजिये। संस्कृति में सदैव

आदान-प्रदान होता आया है, लेकिन अंधी नकल तो मानसिक दुर्बलता का ही लक्षण है। पश्चिम की स्त्री आज गृह-स्वामिनी नहीं रहना चाहती। भोग की विदग्ध लालसा ने उसे उच्छृंखल बना दिया है। वह अपनी लज्जा और गरिमा को, जो उसकी सबसे बड़ी विभूति थी, चंचलता और आमोद-प्रमोद पर होम कर रही है। जब मैं वहाँ की सुशिक्षित बालिकाओं को अपने रूप का, या भरी हुई गोल बाहों का, या अपनी नग्नता का प्रदर्शन करते देखता हूँ तो मुझे उनपर दया आती है। उनकी लालसाओं ने उन्हें इतना पराभूत कर दिया है कि वे अपनी लज्जा की भी रक्षा नहीं कर सकतीं। नारी की इससे अधिक और क्या अधोगति हो सकती है?"

'गोदान' में प्रेमचंद के विचार परिपक्व हुए दिखाई देते हैं। सामाजिक जीवन के प्रत्येक अंग पर इस ग्रन्थ में उन्होंने अपने दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है। वह कोण प्रेम का नहीं, सेवा और त्याग का है। महात्मा गांधी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई दे रहा है। साम्यवाद का औचित्य स्वीकार करते हुए भी प्रेमचंद सर्वत्र सेवा और त्याग पर जोर देते दिखाई दे रहे हैं। इसे आप भारतीय संस्कृति समझते हैं। चित्त की उच्च-नीच वृत्तियों को बे-नकेल छोड़ देना और उन्हें समाज में स्वच्छंद विचरण करने देना आप नारीत्व और नरत्व के पूर्ण विकास में बाधक समझ रहे हैं। "युवतियाँ अब विवाह को पेशा नहीं बनाना चाहतीं। वे केवल प्रेम के आधार पर विवाह करेंगी।"—इस पूर्वपक्ष का खण्डन आप मि० मेहता से इस प्रकार कराते हैं—"जिसे तुम प्रेम कहती हो वह धोखा है, उद्दीप्त लालसा का कविकृत रूप, उसी तरह जैसे संन्यास केवल भीख माँगने का संस्कृत रूप है। वह प्रेम अगर वैवाहिक जीवन में कम है तो मुक्त विलास में

बिल्कुल नहीं है। सच्चा आनंद, सच्ची शान्ति केवल सेवा-व्रत में है। वही अधिकार का स्रोत है, वही शक्ति का उद्गम है। सेवा ही वह सीमेण्ट है जो दम्पति को जीवनपर्यंत स्नेह और साहचर्य में जोड़ रख सकता है, जिसपर बड़े-बड़े आघातों का भी कोई असर नहीं होता। जहाँ सेवा का अभाव है वहीं विवाह-विच्छेद है, परित्याग है, अविश्वास है। आपके (स्त्रियों के) ऊपर पुरुष-जीवन की नौका का कर्णधार होने के कारण जिम्मेदारी ज्यादा है। आप चाहें तो नौका को आँधी और तूफान में भी पार लगा सकती हैं, और आपने असावधानी की तो नौका डूब जायगी, और उसके साथ आप भी डूब जायँगी।" यही मेहता एक जगह और कहते हैं—"मैं प्रकृति का पुजारी हूँ और मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहता हूँ, जो प्रसन्न होकर हँसता है, दुखी होकर रोता है और क्रोध में आकर मार डालता है। जो दुःख और सुख दोनों का दमन करते हैं, जो रोने को कमजोरी और हँसने को हलकापन समझते हैं, उनसे मेरा कोई मेल नहीं। जीवन मेरे लिए आनन्दमय क्रीड़ा है ; सरल, स्वच्छन्द ; जहाँ कुत्सा, ईर्ष्या और जलन के लिए स्थान नहीं। मैं भूत की चिंता नहीं करता, भविष्य की परवाह नहीं करता। वर्तमान ही मेरे लिए सब कुछ है। भविष्य की चिंता हमें कायर बना देती है, भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है!.........हम व्यर्थ का भार अपने ऊपर लादकर रूढ़ियों और विश्वासों और इतिहासों के मलबे के नीचे दबे पड़े।.........जो शक्ति, जो स्फूर्ति मानव-धर्म को पूरा करने में लगनी चाहिए थी, सहयोग में, भाईचारे में, वह पुरानी अदावत का बदला लेने और बाप-दादों का ऋण चुकाने की भेंट हो जाती है। और, जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है इसपर तो मुझे हँसी आती है। यह मोक्ष और उपासना अहंकार

की पराकाष्ठा है, जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है और जीवन को सुखी बनाना ही उपासना है, और मोक्ष है। ज्ञानी कहता है—ओठों पर मुस्कुराहट न आये, आँखों में आँसू न आये। मैं कहता हूँ—अगर तुम हँस नहीं सकते और रो नहीं सकते तो तुम मनुष्य नहीं, पत्थर हो। वह ज्ञान जो मानवता को पीस डाले, ज्ञान नहीं है, कोल्हू है।"

यह जीवन की फिलॉसफी है, जिसे प्रेमचंद ने पाठकों के सामने रखा है। प्राच्य त्याग और पाश्चात्य भोग,- प्राच्य संयम और पाश्चात्य अनियम, ईश्वर पर अंधविश्वास और मानवत्व में ईश्वरत्व को प्राप्त करने की लालसा, त्यागमय पारिवारिक जीवन और बाप-दादों के ऋण को अस्वीकार करने की कामना, इन विचारों का संमिश्रण 'गोदान' में जगह-जगह दिखाई देता है। प्राच्य-पाश्चात्य संघर्ष से जीवन का एक शास्त्र 'गोदान' में क्रमश: विकसित हो रहा है, पर दुर्भाग्यवश, पूर्ण विकास नहीं होने पाता और प्रेमचंद जी हमें मझधार में छोड़कर सहसा अन्तर्धान हो जाते हैं। इस समय हिन्दी-साहित्य की नौका कर्णधार-हीन प्रवाह में बहती चली जा रही है। भगवान् जाने उसे फिर दूसरा कर्णधार कब मिलेगा। फिर भी हमारा साहित्य प्रेमचंद का सदैव कृतज्ञ रहेगा। हरिश्चन्द्र के बाद वह अंधकार में टटोल रहा था, अपने पड़ोसियों से अपच खाद्य लेकर उदर-पूर्ति कर रहा था। रसना विकृत हो रही थी। प्रेमचंद ने उसे अपना घर दिखाया—जीवन से उसका सम्बन्ध कर दिया। हमारी भाषा को स्वाभाविकता प्राप्त करा दी। वह अपने बच्चों के मुँह से निकलने लगी। हिन्दी हिन्द की हुई। यह प्रेमचंद की हिन्दी को देन है। उसका भावी विकास भावी लेखकों पर निर्भर है, पर इतना तो

अवश्य कहा जा सकता है कि प्रेमचंद ने हिन्दी-साहित्य को जनता का साहित्य बना दिया। उसके निर्मल जीवन में जन वर्ग के प्रतिबिम्ब दिखाई देने लगे हैं। प्रेमचंद के पात्र जन-वर्ग के प्रतिबिंब हैं, प्रेमचंद के विचार वर्गों को उठाने और मिलाने के भगीरथ प्रयत्न के द्योतक हैं। स्वयं प्रेमचंद जनता के प्रतीक हैं। उनका स्थूल देह अदृश्य हो गया है, पर उनका यह उज्वल प्रतीक तब तक रहेगा, जब तक हिन्दी रहेगी और उसके बोलनेवाले रहेंगे।

—बा० वि० पराड़कर

प्रेमचंद की उपन्यास-कला

प्रेमचंद ने जब हिंदी साहित्य में पैर रखा, वह उसके जागृति का युग था। भारतेंदु ने जब लिखना शुरू किया, उस समय साहित्य और कला का पारखी केवल एक जरा-जीर्ण सामंतीय समाज था। कला को समझनेवाले मध्य-वर्ग का जन्म हो रहा था। प्रेमचंद को समझनेवाली मध्य-वर्ग की जनता काफी तादाद में तैयार हो चुकी थी। इसका कारण भारत में पूँजीवाद का आगमन था। इस जागृति के युग में हमारा कथा-साहित्य किस्सा तोता-मैना और बैतालपचीसी, चंद्रकांता, भूतनाथ और मि० ब्लेक के जासूसी कर्त्तब छोड़ 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' की ओर मुड़ा।

अब भारत में पूँजीवाद अपना प्रगतिशील पार्ट पूरा कर संक्रांति कला में पहुँचा है और उसका निर्मित समाज-व्यवधान शिथिल पड़ गया है; किंतु एक नयी शक्ति भी हमारे बीच उठ रही है, जो समाज का कायाकल्प कर हमें फिर उन्नति के पथ पर अग्रसर करेगी। इस उन्नति के पथ में अनेक शक्तियाँ बाधा डाल रही हैं, किंतु उनकी पराजय निश्चित है।

हमारे इतिहास के इस लंबे युग का पूरा विवरण प्रेमचंद के साहित्य में मिलेगा। साम्राज्यशाही के कारण भारतीय पूँजीवाद के विकास में बाधा पड़ती रही; किंतु गाँव में जर्जर सामंतशाही को पूर्ण सहायता मिली। नगर में उन्नत मध्य-वर्ग और गाँव में निम्न-श्रेणियों ने स्वाधीनता का झंडा ऊँचा किया; किंतु अभी उस महायज्ञ की पूर्णाहुति नहीं पड़ी है।

प्रेमचंद का साहित्य असल में भारतीय गाँव का आधुनिक इतिहास है। नगर में उन्हें कभी वास्तविक सहानुभूति नहीं हुई। गाँधीवाद के प्रभाव में वह गाँव का सरल, निर्मल जीवन अपना ध्येय मानते रहे। उनकी आशायें पाँडेपुर पर केंद्रित थीं, बनारस पर नहीं। भविष्य तो नगर के साथ है, किंतु भविष्य का नगर 'लाभ' के बल पर अवलंबित न होगा।

प्रेमचंद की साहित्यिक दुनिया इसी विशाल भारतीय जन-समाज का प्रतिबिंब है। इस साहित्य में हमें उसका विस्तृत वर्णन मिलेगा। उसके संघर्ष, विजय, पराभव का विषद् चित्रण! प्रेमचंद की दुनिया एक खँडहर-मात्र है। चतुर्दिक यहाँ दैन्य, निराशा, दारिद्र्य का चित्र है; किंतु नवजीवन का संदेश भी इस समाज के रग-रग और कोंपलों में पहुँच चुका है, प्रकृति का यहाँ अद्भुत साज-शृंगार है। फाग, डफ, अबीर—और आम और महुए के पेड़ों पर कोयल की तान!

यह दुनिया अनेक खिलाड़ियों की रंगभूमि है। पल भर अपना पार्ट अदाकर वे यहाँ से चले जाते हैं, एक मेले की पूरी भीड़ यहाँ मिलेगी, धक्का-मुक्की और तिल रखने को न ठौर। किसान, अहीर, पासी, अंधे भिखारी, लोभी वणिक, व्यवसायी पूँजीपति, जमींदार, रईस ओहदेदार, पंडे, मुल्ला, वृद्ध आबाल वनिता सभी इसी भीड़ में मौजूद हैं। यह विश्वामित्र की सृष्टि से

अधिक सफल मानव की सृष्टि है और इसमें न्याय, विवेक, त्याग और आदर्श के हाथ अंतिम विजय है।

प्रेमचंद का साहित्य परिमाण में काफी है। सेवासदन, प्रेमाश्रम, वरदान, रंगभूमि, कायाकल्प, प्रतिज्ञा, निर्मला, कर्मभूमि, गबन, गोदान ; इसके अतिरिक्त दो नाटक और अनेक कहानियाँ। इस साहित्य में दिव्य चक्षुओं से देखा हुआ जीवन का एक बहुत टुकड़ा मिलेगा, अनेक आकर्षक व्यक्ति, साथ ही कहानी का आनंद और जीवन का तथ्य।

'सेवासदन' में मध्य-वर्ग के पतन का एक चित्र है, जिसे आगे भी बार-बार प्रेमचंद ने दुहराया है। आमदनी कम, खर्च अधिक, ऊपर सफेदपोशी का ढोंग। यह विडंबना एक व्यक्ति अथवा परिवार की नहीं, पूरे समाज की है। कम वेतन-भोगी, स्कूल-मास्टर का संकुचित जीवन, विलास की लालसा, समाज की दुर्व्यवस्था, पतित स्त्रियों का पथ—यह वीभत्स चित्र कलाकार ने खींचा। यह उसकी पहली उड़ान थी; किंतु पहली ही बार व्योम-विहारिणी बनी मध्य-वर्ग और नगर जीवन की असफलताओं का इतना विस्तृत विवरण फिर प्रेमचंद ने नहीं किया ; फिर वह गाँव की ओर झुक गये। यौवन में दाल की मंडी का चक्कर लगाकर उनकी कल्पनाओं ने 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' की शरण ली।

'प्रेमाश्रम' में प्रेमचंद गाँव की ओर मुड़े। यह जर्जर सामंत-शाही का पहला विस्तृत चित्र उन्होंने खींचा। जमींदारी प्रथा का विषाक्त वातावरण, कुलीनता की लाज, स्वार्थपरता, त्याग, किसान-समाज की दीनता, असमता ; किंतु बढ़ती संगठित शक्ति। 'गोदान' में उन्होंने इस चित्र को दोहराया, बड़े रस और अलंकार-

परिपूर्ण भाषा और भावुकता से; किंतु इस बार जमींदार के हृदय-परिवर्तन की आशा प्रेमचंद छोड़ चुके थे।

'रंगभूमि' भारतीय समाज का एक व्यापक विशाल चित्र है। रंगभूमि है रईसों और पंडों का प्रिय काशीधाम और पास का गाँव पाँडेपुर। यह गाँव स्व० प्रेमचंदजी का गाँव है और सूरदास का मॉडल यहाँ उन्हें एक भिखारी मिला था। इस कथा के विशाल चित्रपट पर कलाकार ने अपनी तूलिका से सभी तबकों का चित्रण किया; हिंदू रईस ईसाई, वणिक, मुसलमान कुलीन गिरती दशा में, अंग्रेज अफसर, अहलकार, स्वयंसेवक, राज-घराने, रियासतों की दलित-प्रजा, रूढ़ि का जकड़ा ग्रामीण समाज और कथा का सिरताज अंधा फकीर सूरदास। घूम-फिरकर कथा पांडेपुर में ही केन्द्रित होती है। कारण है सिगरेट की फैक्टरी, जिसके खुलने से गाँव में अनेक पातक फैलते हैं, अत्याचार होते हैं और अंत में जागृति होती है।

'कायाकल्प' में प्रेमचंद कुछ आध्यात्म की ओर ढुलके। यह प्रवृत्ति उनके साहित्य में सदा रही है। उनकी कहानी 'मूँठ' इसका उदाहरण है। पार्थिव जग में जो हम चर्म-चक्षुओं से देखते हैं, उसके पार कुछ है—यह धारणा बढ़कर 'कायाकल्प' में कथा-वस्तु का रूप विकृत करती है। इस कारण 'कायाकल्प' केवल सामाजिक कथा नहीं रही। वह व्यक्ति ने जन्म-जन्मान्तर, योगाभ्यास, कायाकल्प आदि पचड़ों में पड़ कुछ राइडर हैगर्ड के 'She' का आकार-प्रकार ले बैठी है। साथ ही साथ उसमें पुराने कुलीनों के प्रति बड़ा मधुर व्यंग भी है—मुंशी वज्रधर के चित्रण में!

'कर्मभूमि' एक सार्वजनिक आन्दोलन का अध्ययन है। किस प्रकार जनता का बल चींटी के आकार से क्रमशः हाथी बन जाता है, इसका वर्णन इस कथा में है।

'निर्मला' वृद्ध-विवाह का चित्र है। एक पूरा परिवार इसके कारण बिगड़ जाता है। यहाँ विमाता का एक कुशल मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी है।

'गबन' हिन्दू गृह-कलह, हिन्दू नारी की आभूषण-लालसा और निम्न मध्य-वर्ग की विडम्बना और पतन का शक्तिशाली चित्र है। 'गबन' हिन्दू परिवार के कुण्ठित जीवन का गम्भीर खाका है। इस उपन्यास में हमें विशाल कलकत्ता के नगर-जीवन की भी झाँकी मिलती है।

'गोदान' में प्रेमचंद फिर गाँव की ओर मुड़े, नूतन उल्लास और रस लेकर।

'गोदान' वसंत के छायापट पर बनाया गया झिलमिल चित्र है। इसमें उनकी भाषा-यौवन-माधुरी छलकी पड़ती है। किंतु गाँव की दुर्दशा पर उनके आँसू भी निकल पड़ते हैं इस भयानक संघर्ष और शोषण का उनकी कुपित, कुण्ठित आत्मा प्रतिकार नहीं देखती और 'गोदान' एक प्रकार से बिना अंत की कहानी है। होरी के चित्रण में कुशल कलाकार के हाथों में वही पुरानी कारीगरी, प्रौढ़ता और सफाई है।

इस कथा-प्रवाह में कलाकार के अनेक मन्सूबे, खिलवाड़, अद्वितीय कौशल, चिरसंचित यत्नलीन हैं। उनकी ओर हम एक विहंगम दृष्टि डालें।

प्रेमचंद हिंदी के तपसी कलाकार थे। सामाजिक क्रांति की भावना से उनकी रचना ओत-प्रोत है। स्वयं अपने जीवन में वह सक्रिय क्रांतिकारी थे। उन्होंने आदर्श के लिये अपने को मिटा दिया। किंतु उनका सब से महान क्रियात्मक प्रयोग उनकी रचना है।

संगठित सामूहिक शक्ति क्रांति का मार्ग है, यह हम निरंतर उनकी रचना में देखते हैं। हमारे दलित-वर्ग जरा-से नेतृत्व की आड़ पाकर संगठित होकर विजय के पथ पर बढ़ सकते हैं, यह हम 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' आदि कथाओं में देखते हैं। इस क्रांति का क्या रूप प्रेमचंद देखते थे? ऐसी क्रांति जो सर्वव्यापक हो, जीवन के मिथ्या आदर्शों, झूठे सिद्धांतों का, परिपाटियों का अंत कर दे। जो एक नये युग की प्रवर्तक हो, एक नई सृष्टि खड़ी कर दे! (कर्मभूमि) हमारे दलित वर्गों के प्राण का संदेश इस क्रांति में है। गाँव के दीन, दुखी, शोषित श्रेणियों का, विशेषकर किसान का, युग-युग की संचित निरंकुशता से विकृत जमींदारी प्रथा, साथ ही पुलिस आदि का रोग यह क्रांति समाप्त कर देगी! इस क्रांति की लहर दूर-दूर तक फैल समाज की मलिनता धो देगी!

उदाहरण के लिये धर्म का ढोंग लीजियेः—

मि० जॉन सेवक···क्या तुम समझते हो कि मैं और मुझ जैसे और हजारों आदमी, जो नित्य गिरजे जाते हैं, भजन गाते हैं, आँखें बंद करके ईश-प्रार्थना करते हैं, धर्मानुराग में डूबे हुए हैं? कदापि नहीं।···धर्म केवल स्वार्थ-संगठन है। (रंगभूमि)

अथवा जेल-शासन लीजिये—

भोजन ऐसा मिलता था, जिसे शायद कुत्ते भी सूँघकर छोड़ देते, वस्त्र ऐसे, जिन्हें कोई भिखारी भी पैरों से ठुकरा देता, और परिश्रम इतना करना पड़ता, जितना बैल भी न कर सके। जेल शासन का विभाग नहीं, पाशविक व्यवसाय है, आदमियों से जबरदस्ती काम लेने का बहाना, अत्याचार का निष्कंटक साधन (कायाकल्प)।

इस प्रकार सामाजिक अंधकार को कुरेदती कलाकार की

अंतर्दृष्टि चारों ओर पड़ी है, और जहाँ भी पहुँची है, दिव्य-आलोक करके लौटी है।

भावना इस कलाकार की अंतर्ज्योति का साधन है। इस भावना में देह, अदेह, जन, मग, पशु रंग जाते हैं और नवीन रूप में हमारे सामने आते हैं। इस व्यापक भावना के कारण ही प्रेमचंद की तुलना गोर्की से की गयी है। प्रेमचंद बुद्धिवादी थे; किंतु अतिरंजित भावना ने उन्हें आदर्शवादी बनाया था और उनके बुद्धिवाद के पीछे यह प्रेरणा थी।

प्रेमचंद का एक प्रबल अस्त्र तीखे छूरे-सा उनका व्यंग है। क्रोध से क्षुब्ध जब उनकी कल्पना उग्र रूप ग्रहण नहीं करती, तब वे व्यंग का आश्रय लेते हैं। पंडों के वर्णन में उनका व्यंग उपहास से भर जाता है। अमीरी के चोचलों का वर्णन वह मीठे और कोमल विनोद से करते हैं। आप कहते हैं, "तोंद के बगैर पंडित कुछ जँचता नहीं। लोग यही समझते हैं कि इनको तर माल नहीं मिलते, तभी तो ताँत हो रहे हैं। तोंदल आदमी की शान ही और होती है, चाहे पंडित बने चाहे सेठ, चाहे तहसीलदार ही क्यों न बन जाय। (कायाकल्प)

प्रेमचंद जीवन के किसी भी अंग का चित्र बड़ी कुशलता और सुघड़ाई से खींचते थे। यही कलाकार की सबसे बड़ी विजय थी। कलम उठाया और नकशा खींचना शुरू किया। उनके हाथ में गजब की सफाई थी। इस चित्राङ्कन में वह तन्मय, आत्म-विस्मृत हो जाते थे। कभी-कभी तो रंग जरूरत से ज्यादा गाढ़ा हो जाता था। सूरदास को लीजिये, एक अंधे भिखारी का वर्णन कर रहे हैं; उसमें इतने तन्मय हुए कि भूल गये, अंधा भिखारी गाड़ी के पीछे मीलों नहीं दौड़ सकता।

इस महान चित्रशाला में हमें जीवन के सभी चित्र मिलेंगे। किंतु एक चित्र उन्होंने फिर-फिर दुहराया है; जर्जर भारतीय सामन्तशाही का दृश्य; कुण्ठित किसान और संकट में पड़ी जमींदारी प्रथा। भारतीय गाँव उनकी रंगभूमि है और किसान उनका नायक। उनकी सम्पूर्ण आशाएँ यहाँ केन्द्रित हैं। 'शहर अमीरों के रहने और क्रय-विक्रय का स्थान है। उसके मध्य भाग में उनके लड़कों की पाठशालाएँ और उनके मुकदमेबाजी के अखाड़े होते हैं, जहाँ न्याय के बहाने गरीबों का गला घोंटा जाता है। शहर के आसपास गरीबो की बस्तियाँ होती हैं…' (रंगभूमि)। यह शहर के प्रति उनका रुख है।

प्रेमचंद की कथाओं में दृश्य नाट्य बहुत हैं। एक एक घटना का वह तल्लीनता से वर्णन करते हैं। भारतीय रंगमंच के उत्थान-काल में वह नाटककार हुए होते। जो दृश्य उनकी लेखनी वर्णन करती है, उसे नेत्र मानो सजीव देखते हों; यह उनकी कला का विशेष चमत्कार है। इस नाट्य गुण के कारण उनकी कथा की गति में बड़ी तरलता, लचक और आकर्षण है। एक उदाहरण लीजिये—

'निर्मला चटपट बाहर निकली। मुंशीजी उसके हाथ धुलाने लगे। मंगला चारपाई बिछाने लगी। मनोरमा बरोठे में आकर रुक गयी। इतना अँधेरा था कि वह आगे कदम न रख सकी। मरदाने कमरे में एक दीवारगीर जल रही थी। झिनकू उतावली में उसे उतारने लगे तो वह जमीन पर गिर पड़ी। यहाँ भी अँधेरा हो गया। मुंशीजी हाथ में कुप्पी लेकर द्वार की ओर चले तो चारपाई की ठोकर लगी। कुप्पी हाथ से छुट पड़ी। आशा का दीपक भी बुझ गया।'

(कायाकल्प)

प्रेमचंदजी के कथानक विशेष मनोरंजक होते हैं। पाठक को बरबस बाँध लेते हैं। खाना-पीना बिसर जाता है, तंबाकू के बोरों के पीछे छिपकर पढ़े गये तिलस्माती उपन्यास आखिर काम आये। घटना-प्रवाह के उतार-चढ़ाव में प्रेमचंद सिद्धहस्त थे, 'रंगभूमि' उनका विशालकाय उपन्यास एक साँस में नहीं तो दो में पढ़ा जा सकता है।

उनके कथा-वस्तु की हलचल समुद्र की तरंगों के सदृश हैं। घटना आगे बढ़ती है, तूल पकड़ती है; फिर पीछे हट जाती है। कथानक में यह कशमकश अंत तक जारी रहती है। टेकनीक वही है जो 'बड़े घर की बेटी', 'पंच परमेश्वर' अथवा 'ईश्वरीय न्याय' आदि कल्पों में इतनी सफल है। कथानक में शक्ति के साथ-साथ लचक रहती है, जैसी लोहे की शलाखा में।

चरित्र-चित्रण में प्रेमचंद उस्ताद थे। उन्होंने हिंदी-साहित्य को अनेक अमर पात्र दिये हैं। छोटे-बड़े पात्र तो उनकी कथाओं में अगणित भरे पड़े हैं; किंतु इनमें कुछ हमारी जीवन-लीला के चिरसंगी बन गये हैं। सूरदास, विनय, अमरकांत अथवा होरी इतिहास के अमर पात्रों से कम नहीं। इसी प्रकार स्त्रियों में सुमन अथवा सोफी को समझना चाहिये।

प्रेमचंद को मनुष्य-स्वभाव का अपरिमित ज्ञान था। बालक, बूढ़े, युवा, स्त्री-पुरुष सभी के स्वभाव की उन्होंने विशद व्याख्या की है। प्रेमचंद आदर्शवादी थे। मनुष्य का उनके मन में अपार आदर था। कहते हैं, मनुष्य अपने से ही दूसरों को भी परखता है। प्रेमचंद स्वयम् विनोदी थे; यद्यपि उनके आदर्श का झंडा कभी नीचा नहीं हुआ। उनकी खुलकर हँसने की आदत अब भी उनके मित्रों को याद है। यह विनोद, शीलता और आदर्शवाद उनके चरित्र-चित्रण में भी मौजूद है। वह मनुष्य-स्वभाव का ऊँच-

नीच पहचानते थे कि ऊँच से ऊँच भी नीचे ढुलक पड़ते हैं, और नीच-से-नीच भी पश्चात्ताप की आग में जल ऊपर उठने की क्षमता रखते हैं। सूरदास और होरी के स्वभाव में भी दुर्बलताएँ हैं और काले खाँ सरीखे चोर-डाकुओं के मनों में उच्च भावनाएँ। इस उदारता-मिश्रित स्वाभाविकता से प्रेमचंद के पात्रों की गढ़न हुई है।

यह चरित्र-निर्माण ही उनके कथानक को आगे बढ़ाता है। कथानक का स्रोत प्रेमचंद के जग में मनुष्य का चरित्र है, कोई दैवी अदृश्य शक्ति नहीं। चरित्र-निर्माण और घटना-जाल प्रेमचंद की कला में एक अंतरंग बंधन में परस्पर बँधे हैं। दोनों मिलकर जीवन के सदृश ही विचित्र नक्काशी पेश करते हैं।

मनोविज्ञान की ठोस भूमि पर निर्मित यह कलाकार का चरित्र जग है। सूरदास के मन में भी एकआध वार प्रभुत्व की भावना उठती है। इन्दु के मन में सोफी के प्रति ईर्ष्या जागृत हो जाती है। अहल्या विलास की लालसा में उलझ चक्रधर को तज देती है। किंतु मनुष्य का स्वभाव ही है गिर-गिर कर उठना और आगे बढ़ना—बीच-बीच में प्रेमचंद मनुष्य-स्वभाव का विवेचन भी करते चलते हैं:—

'चंचल-प्रकृति बालकों के लिए अंधे विनोद की वस्तु हुआ करते हैं। सूरदास को उनकी निर्दय बाल-क्रीड़ाओं से इतना कष्ट होता था कि वह मुँह अंधेरे घर से निकल पड़ता और चिराग जलने के बाद लौटता। जिस दिन उसे जाने में देर होती, उस दिन विपत्ति में पड़ जाता था। सड़क पर राहगीरों के सामने, उसे कोई शंका न होती थी; किंतु बस्ती की गलियों में पग-पग पर किसी दुर्घटना की शंका बनी रहती थी। कोई उसकी लाठी छीनकर भागता; कोई कहता—'सूरदास, सामने गड्ढा है, बाईं

तरफ हो जाओ ! सूरदास बाएँ घूमता, तो गड्ढे में गिर पड़ता।
......। (रंगभूमि)

प्रेमचंद की भाषा ठेठ हिंदुस्तानी है, सीधी-सादी किंतु मँजी, प्रौढ़, परिष्कृत, संस्कृत पदावली से शुभ्र और उर्दू से चंचल। जो आलोचक कहते हैं कि हिंदुस्तानी में ऊँचे भावों की रक्षा नहीं हो सकती, उनके सामने प्रेमचंद की नजीर है !

'सकीना जैसे घबरा गई। जहाँ उसने एक चुटकी आटे का सवाल किया था, वहाँ दाता ने ज्योनार का एक भरा थाल लेकर उसके सामने रख दिया। उसके छोटे से पात्र में इतनी जगह कहाँ है ? उसकी समझ में नहीं आता कि इस विभूति को कैसे समेटे। अंचल और दामन सब कुछ भर जाने पर भी तो वह उसे समेट न सकेगी।' (कर्मभूमि)

यह भाषा तीखी, पैनी तथा मर्मस्थल पर आघात करनेवाली है। चुस्त, मुहावरेदार और अलंकारमयी भी है। उपमा इसकी विशेषता है। जन-साधारण के जीवन से यह अपने शब्द-चित्र बनाती है ! मुंशी वज्रधर उन रेल के मुसाफिरों में थे, जो पहले तो गाड़ी में खड़े होने की जगह माँगते हैं, फिर बैठने की फिक्र करने लगते हैं और अंत में सोने की तैयारी कर देते हैं। (कायाकल्प)

विनोद इस भाषा से छलका पड़ता है; संसार में कपड़े से ज्यादा बेवफा और कोई वस्तु नहीं होती। हमारा घर बचपन से बुढ़ापे तक हरएक अवस्था में हमारा है। वस्त्र हमारा होते हुए भी हमारा नहीं होता ! आज जो वस्त्र हमारा है वह कल हमारा न रहेगा। उसे हमारे सुख-दुख की जरा भी चिंता नहीं होती, फौरन बेवफाई कर जाता है। हम जरा बीमार हो जायँ, किसी स्थान का जलवायु जरा हमारे अनुकूल हो जाय, बस हमारे

प्यारे वस्त्र जिनके लिए हमने दर्जी की दूकान की खाक छान डाली थी, हमारा साथ छोड़ देते हैं। (कायाकल्प)

यह भाषा 'गोदान' में परम रसवंती, अलंकार-बोझिल, कवितामयी हो गई है! इसके सरल प्रवाह में कथानक और कथोपकथन सजल गति से बहे हैं। पात्रों का सजीव वार्तालाप प्रेमचंद कलाकार का निजी गुण है! यह सजीवता कुछ तो भाषा के कारण है, कुछ उनके गहरे अनुभव पर अवलम्बित। जो बात-चीत हम प्रेमचंद के उपन्यासों में सुनते हैं, वह जीवन में अपने चारों ओर सुन सकते हैं।

इसी कारण हम उनके उपन्यास-संसार को भारतीय-जीवन का एक अंग कह सकते हैं।

प्रेमचंद की टेकनीक कितनी सफल और परिष्कृत है, इसका प्रमाण 'कायाकल्प' है। टेकनीक की कुशलता उपन्यास का आकर्षण बनाये रखती है। कथावस्तु की एक भारी भूल ने 'कायाकल्प' को एक सामाजिक उपन्यास की श्रेणी से निकाल कर आध्यात्म के क्षेत्र में पहुँचा दिया। प्रेमचंद की विचारधारा में सदेव से अश्रुत, अदृश्य जग के प्रति ऐसी भावना की एक तरंग थी।

'रंगभूमि' में एक भीलनी ने विनय को एक बूटी दी, जिसके बल से सोफी के मन में वासना जग उठी; ऐसी ही कुछ विचित्र कहानी 'मूंठ' है। 'प्रेमाश्रम' में एक विलासी रईस योगबल से अपने शरीर का विष बाहर निकाल देता है।

प्रेमचंद भावुक थे। कोई ठोस बुद्धिवाद उनकी कला के पीछे नहीं। इस कारण नवीन समाज का व्यवधान उनकी दृष्टि में धुँधला-सा रहा। क्रांति के बाद गाँव में स्वर्ण-युग की सरलता

और निष्कपटता का फिर राज्य होगा; ऐसा शायद कुछ उनका स्वप्न था। यह कहिये कि गाँधीजी का राम-राज फिर लौटेगा। यह वैज्ञानिक मनोवृत्ति नहीं। सरिता-जल के समान मनुष्य का सामाजिक जीवन भी आगे ही बढ़ता है, पीछे नहीं लौटता। हम मनुष्य का भविष्य सुविशाल निस्पृह नगरों में देखते हैं, जिनकी जीवन-प्रेरणा लाभ नहीं, सामाजिक उपयोग होगा।

प्रेमचंद का कथानक घटना-बाहुल्य से दबा रहता है। उपन्यास की नवीन टेकनीक के अनुसार छोटी-छोटी घटनाएँ कथानक को आगे बढ़ाती हैं। गबन, गृह-त्याग, मृत्यु, लम्बी-लम्बी यात्राएँ—इनकी प्रेमचंद के वस्तु-भाग में भरमार रहती है। 'निर्मला' में लगभग सभी पात्र मृत्यु के घाट उतार दिये गये हैं। 'रंगभूमि' का कथानक विशेष चंचल है। इसका कारण हम यह कह सकते हैं कि आज भारतीय जन-समाज का जीवन भी बहुत क्षुब्ध; आतुर और गतिशील है।

एक आरोप हमारा यह है कि कहीं-कहीं प्रेमचंद अस्वाभाविक हो जाते हैं। किसी घटना को तूल से देते-देते वह उचित-अनुचित भूल जाते हैं। अंधा सूरदास गाड़ियों के पीछे मील-मील भर कैसे दौड़ सकता है ? सोफिया मि० क्लार्क के साथ अकेले राजस्थान में कैसे घूमी, यहाँ तक कि महाराज और दीवान भी उसे मिसेज क्लार्क समझते रहे ? यह किस समाज की प्रथा में सम्भव है ? 'कायाकल्प' में मरणासन्न मनोरमा चक्रधर के आते ही बच्चे को लेकर चारों ओर दौड़ाने लगी ! क्या यह कथाकार के अधिकार का दुरुपयोग नहीं ? 'कर्मभूमि' में भद्र महिला सकीना अमरकान्त से दूसरी ही भेंट में घुल-मिलकर प्रेम की बात करने लगी।

प्रेमचंद के कुछ पात्र भी व्यक्ति की अपेक्षा 'टाइप' बन जाते हैं; धूर्त्त, मक्कार अथवा संत। ऐसा कभी-कभी ही हुआ है। रंग-

भूमि में कर्मनिष्ठ धर्मभीरु ताहिरअली गबन कर बैठते हैं ; किंतु माहिरअली अथवा उनकी माताएँ बिलकुल नहीं झुकतीं। मिसेज जॉन सेवक के हृदय से मातृ-भाव विलीन हो गया है। उनका चरित्र जड़ है, विकासमान नहीं ! इसके विपरीत हम उनके अनेक पात्रों को डाँवाडोल चलायमान देखते हैं। यह मनुष्य का स्वभाव ही है, वह एक जगह स्थिर नहीं रहता।

एक पल प्रेमचंद की तुलना साहित्य के अन्य उपन्यास-कारों से करें।

प्रेमचंद हमें सहज ही 'डिकेंस' का स्मरण दिलाते हैं ; वही घटना-प्राबल्य, पात्रों की भीड़भाड़ और सामाजिक परिवर्तन की लगन। डिकेंस भी नीचे वर्गों का चित्रण करता है, किन्तु वह नगर-जीवन का चित्रकार है और बहुधा उसके चरित्र विकृत और अस्वाभाविक हो गये हैं। जैसे उसने दुर्बीन के गलत सिरे से जीवन देखा हो। डिकेंस को लंदन का चित्रकार कहा गया है। प्रेमचंद शहर से तने रहते थे !

गोर्की से भी प्रेमचंद की तुलना एक हद तक उपयुक्त है। दोनों ही क्रांति के समर्थक और दलित-वर्गों के अगुआ थे। गोर्की के जगत में पात्रों की यह भीड़-भाड़ नहीं। यदि प्रेमचंद किसान-जीवन के कलाकार हैं तो गोर्की मजदूरों का है। फैक्टरी, बाजार, हाटों की हलचल और क्रांति की अबाध गति ये गोर्की की कथा 'माँ' के अपने गुण हैं। 'कर्मभूमि' में कथानक का विकास 'मा' के ही सदृश हुआ है।

गैल्जवर्दी ने भी अपने समाज का विस्तृत इतिहास लिखा है, किंतु वह उच्च मध्य वर्ग के प्राणी थे। इसी समाज में उनका जीवन

केन्द्रित था। निम्न वर्गों की ओर भी वह झुके हैं, लेकिन बहुत कम। पशुओं की मनोवृत्ति वह भी प्रेमचंद के समान समझते हैं; किंतु उनका स्नेही पशु घोड़ा या कुत्ता है, प्रेमचंद का बैल। यह भेद उनकी कला की नीव तक हमें पहुँचाता है। घोड़ा और कुत्ता विलास और मनोरंजन का साधन है, बैल रोजी का।

अपने देश में रवि बाबू और शरद बाबू से उनकी तुलना हम कर सकते हैं।

रवि बाबू के कथा-भाग में रेशम के तारों-सा कोमल रईसी जीवन है। उनकी भाषा-माधुरी, चतुर शब्द-विन्यास, काव्यमय जीवन-झांकी हमें एक शांत, स्निग्ध वातावरण में पहुँचा देती है, जहाँ जीवन की विषमता और कठोरता विकराल रूप से हमारे सामने नहीं आती। भावनाओं के जग में ही कवि की प्रेरणा विचरती है।

शरद बाबू हिंदू भद्र समाज के कठोर आलोचक हैं। उसकी दहेज-प्रथा के ढकोसलों और दलबंदियों के।

पल्लीसमाज, अरक्षणीया आदि हमारे समाज के वीभत्स चित्र हैं। शरद बाबू के पात्र बहुत मर्मस्पर्शी होते हैं। वह हमारे हृदय में बेहद उथल-पुथल मचा देते हैं।

प्रेमचंद की कला में न तो रवि बाबू का काव्य-रस है, न शरद बाबू का मर्मस्पर्शी चरित्र-चित्रण—किंतु आपने अपनी कला में भारतीय-जीवन के उस विशाल, विस्तृत स्तर को छुआ है, जो अबतक अदृश्य और अछूता था। आपने भारत के मूक जन-समाज को वाणी दी है और अभूतपूर्व साहित्यिक जीवन! यही आपकी बड़ी विभूति है। इस दृष्टिकोण से प्रेमचंद कलाकार रवि बाबू और शरद बाबू से भी एक पग आगे हैं।

—प्रकाशचंद्र गुप्त

प्रेमचंद की भाषा और शैली

प्रेमचंदजी की आरंभिक रचनाओं में प्रौढ़ता न थी। उन कृतियों को देखकर यह आशा नहीं की जा सकती थी कि कुछ ही दिनों में उनमें आकाश-पाताल का अंतर हो जायगा। उस समय न तो उनकी भाषा ही संयत होती थी और न भाव-व्यंजना ही। वाक्यों की छोटाई पर ध्यान देने से यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि वे इसलिये छोटे नहीं होते थे कि भाव अधिक स्पष्ट हों; वरन् वे लेखक की भीरुता के कारण ऐसे लिखे जाते थे। उस समय ये बड़े-बड़े वाक्यों के संबंध-क्रम का निर्वाह ही नहीं कर सकते थे। यही कारण है कि भाषा में शिथिलता उत्पन्न हो गयी है। एक-एक वाक्य में भाव टुकड़े-टुकड़े होकर रखे मिलते हैं। वाक्य-समूह असंबद्ध और धारा-प्रवाह छिन्न-भिन्न होता था। इनके मुहाविरों के सुंदर प्रयोग से भले ही सजीवता उत्पन्न होती जा रही हो; परंतु इनकी लेख-चातुरी की सराहना कदापि नहीं की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त उस समय की लिखी कहानियों में भावना का प्रौढ़ प्रसार भी नहीं मिलता। भाव-व्यंजना में अपरिपक्वता स्पष्ट झलकती है। चरित्र-चित्रण में भी वह मनो-

वैज्ञानिक विवेचन और उत्थान-पतन न मिलेगा; जो आज स्वाभाविक-सा दिखाई पड़ता है। संस्कृत तत्समता का बनावटी प्रयोग यह दिखाता था कि एक मौलवी पंडित बनना चाहता है। इसका तात्पर्य केवल यह है कि उनके संस्कृत शब्दों के प्रयोग में अपनापन न था। भाषा साधारणतः उखड़ी मालूम पड़ती थी। उस समय की एक कहानी का छोटा-सा अवतरण देखिये—

"हमारे पहलवानों में वैसा कोई नहीं है, जो उससे बाजी ले जाय। मालदेव की हार ने बुंदेलों की हिम्मत तोड़ दी है। अब सारे शहर में शोक छाया हुआ है। सैकड़ों घरों में आग नहीं जली, चिराग रोशन नहीं हुआ। हमारे देश और जाति की वह चीज अब अंतिम स्वास ले रही है, जिससे हमारा मान था। मालदेव हमारा उस्ताद था। उसके हार चुकने के बाद मेरा मैदान में आना धृष्टता है। पर बुंदेलों की साख जाती है तो मेरा सिर भी उसके साथ जायेगा। कादिर खाँ बेशक अपने हुनर में एक ही है; पर मेरा मालदेव कभी उससे कम नहीं। उसकी तलवार यदि उसके हाथ में होती तो मैदान जरूर उसके हाथ रहता। ओरछे में केवल एक तलवार है जो कादिर खाँ की तलवार का मुँह मोड़ सकती है। वह भैया की तलवार है। अगर तुम ओरछे की नाक रखना चाहती हो तो उसे मुझे दे दो। यह हमारी अंतिम चेष्टा होगी। यदि अबकी हार हुई तो ओरछे का नाम सदैव के लिये डूब जायगा।"

इन त्रुटियों का क्रमशः परिमार्जन होता गया। भाव-व्यंजना का जो प्रौढ़ रूप इनकी रचना में आज दिखाई देता है वह कुछ ही काल पूर्व इस प्रकार का था, यह आश्चर्यजनक है। इस प्रकार की आध्यवसायिक उन्नति कम देखने में आती है। उनकी उस समय की त्रुटियाँ संस्कारजन्य थीं। अतएव आज भी उनका

कुछ न कुछ आभास मिलता ही है, पर वे विशेष खटकती नहीं। उन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों में चमत्कार का विशेष उपयोग नहीं किया। इसका आरंभ सदैव इतिवृत्तात्मक कथानक से होता है। जिस नवीनता एवं चमत्कार का दर्शन हमें "प्रसाद" जी की रचनाओं में हो चुका है, ठीक उसके विपरीत इनकी रचना में मिलता है। उनकी भाव-व्यंजना में काव्य-कल्पना का उल्लास दिखाई पड़ता है ; पर इनकी रचना मृत्यु-लोक की व्यावहारिक सत्ता का चित्र है। उनकी भाषा में उन्मुक्त उन्माद एवं विशुद्धता दिखाई पड़ती है ; परंतु इनकी शैली में भाषा का व्यावहारिक चलतापन विशेष उल्लेखनीय है। उनके कथानक का समारंभ कुतूहल और चमत्कार के साथ स्वाभाविकता का आधार लेकर उत्पन्न होता है और इनका जगत् की स्थूल विवेचना एवं नित्य की अनुभूतियों के आश्रय पर खड़ा होता है। एक स्वर्ग का आह्लादपूर्ण यौवन है और दूसरा हमारे साथ दिन-रात रहनेवाला मृत्यु-लोक का सहचर। एक में हम प्रकृति का मनोरम शृंगार पाते हैं ; दूसरे में मानव-जीवन की सहचरी समीक्षा। एक हमें स्वर्गीय मधुरता का प्रतिबिंब दिखाता है और दूसरा वास्तविक संसार का चित्र।

इनकी शैली का विवेचन करते समय एक बात स्पष्ट सामने आती है। वह यह कि अपने विचारों को स्थूल बनाने के लिये उन्होंने सदैव 'जैसे', 'तैसे', 'मानो' का प्रयोग किया है। इससे उनका तात्पर्य केवल कथित विषय को अधिक बोधगम्य बनाने की चेष्टा ही ज्ञात होता है। कहीं-कहीं तो यह अत्यंत स्वाभाविक और उपयुक्त प्रतीत होता है। इससे भाव-व्यंजना अधिक सुंदर हो गयी है। परंतु अनेक स्थानों पर अस्वाभाविक एवं अप्रयोजनीय भी ज्ञात होता है। इस आलंकारिक पद्धति का अनुसरण करने में यही तो अड़चन उपस्थित होती है कि यदि

वह वास्तविकता का सीमोल्लंघन कर गयी तो सुंदर के स्थान पर भयंकर ही नहीं वरन् अरुचिकर भी हो जाती है। जैसे—"व्याकुल हो गयी—जैसे दीपक को देखकर पतंग, वह अधीर हो उठी—जैसे खांड की गंध पाकर चींटी। वह उठी और द्वारपालों, चौकीदारों की दृष्टियाँ बचाती हुई राजमहल के बाहर निकल आयी—जैसे वेदनापूर्ण क्रंदन सुनकर आँसू निकल आते हैं।" "जैसे चाँदनी के प्रकाश में तारागण की ज्योति मलीन पड़ गयी थी, उसी प्रकार उसके हृदय में चंद्ररूपी सुविचारों ने विकार-रूपी तारागण को ज्योतिर्हीन कर दिया था।" "जिस प्रकार अरुण का उदय होते ही पक्षी कल-रव करने लगते हैं और बछड़े किलोलों में मग्न हो जाते हैं, उसी प्रकार सुमन के मन में भी क्रीड़ा करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई।" "जब युवती चली गयी तो सुभद्रा फूट-फूटकर रोने लगी। ऐसा जान पड़ता था मानो देह में रक्त ही नहीं, मानों प्राण निकल गये हैं। वह कितनी निःसहाय, कितनी दुर्बल, इसका आज अनुभव हुआ। ऐसा मालूम हुआ मानो संसार में उसका कोई नहीं है। अब उसका जीवन व्यर्थ है। उसके लिये अब जीवन रोने के सिवा और क्या है! उसकी सारी ज्ञानेंद्रियाँ शिथिल-सी हो गयी थीं, मानो वह किसी ऊँचे वृक्ष से गिर पड़ी हो।" "जैसे सुंदर भाव के समावेश से कविता में जान पड़ जाती है और सुंदर रंगों से चित्र में, उसी प्रकार दोनों बहनों के आ जाने से झोपड़े में जान आ गयी। अंधी आँखों में पुतलियाँ पड़ गयी हैं। मुरझाई हुई कली शांता अब खिलकर अनुपम शोभा दिखा रही है। सूखी हुई नदी उमड़ पड़ी है—जैसे जेठ-बैसाख की तपन की मारी हुई गाय सावन में निखर जाती है और खेतों में किलोलें करने लगती है, उसी प्रकार विरह की सताई हुई रमणी अब निखर गयी है।"

कथोपकथन के क्रमिक विकास में इस बात की बड़ी आवश्यकता होती है कि उस मनुष्य की वाक्य-योजना में वह स्वाभाविक भावभंगी हो, जो वस्तुतः नित्य के व्यवहार में प्राप्त होती है। बातचीत में प्राय: वाक्य का शुद्ध क्रम नहीं रह जाता। जैसे 'आप जाइए। आपको क्या पड़ी है ?' को साधारण कथोपकथन में कहा जायगा–"जाइए आप। क्या पड़ी है आपको ?" इसी कारण वास्तविकतावादी अधिकतर नाट्य-प्रणाली का अनुसरण करते हैं। इस नाट्य-प्रणाली का अनुसरण 'प्रेमचंद' में नहीं प्राप्त होता। वे सीधे-सादे व्याकरण के निश्चित मार्ग का अवलंबन समीचीन समझते हैं। इससे कथोपकथन की भाषा शिथिल-सी हो गयी है। जिन स्थानों पर इन्होंने इस नाट्य-प्रणाली का अनुसरण किया है, वहाँ पर जीवन आ गया है, परंतु ऐसे स्थल न्यूनातिन्यून हैं। 'मानो उसका कोई है ही नहीं संसार में' न लिख वे सदैव सीधा-सादा रूप "मानो संसार में उसका कोई नहीं है" लिखते हैं। "युक्ति कोइ ऐसी बताइए कि कोई अवसर पड़े तो मैं साफ़ निकल जाऊँ" ही लिखेंगे। इस प्रकार नाटकोपयोगी कथोपकथन प्रेमचंद की रचना में अधिक न मिलेगा। कहीं-कहीं जहाँ हृदय की धधकती अग्नि बाहर निकलने की चेष्टा करती है; अथवा जहाँ हृदय से, अधिक दिनों के संचित उद्‌गार, वायु के प्रबल वेग की भाँति निकलना चाहते हैं वहाँ भाषा भी स्वभावत: संयत और भावुक हो गयी है ; पर ऐसे स्थान हैं बहुत थोड़े। जेसे—"सुमन ने आँखें खोलीं और उन्मत्तों की भाँति विस्मित नेत्रों से शांता की ओर देखकर बोली—"कौन शांति ? तू हट जा, मुझे मत छू, मैं पापिनी हूँ, मैं अभागिनी हूँ, मैं भ्रष्टा हूँ, तू देवी है, तू साध्वी है, मुझसे अपने को स्पर्श न होने दे, इस हृदय को वासनाओं ने, लालसाओं ने, दुष्कामनाओं ने मलिन कर दिया है, तू अपने

उज्ज्वल स्वच्छ हृदय को पास मत ला, यहाँ से भाग जा। वह मेरे सामने नरक का अग्नि-कुंड दहक रहा है, यम के दूत मुझे उस कुंड में झोंकने के लिये घसीटे लिये जाते हैं, तू यहाँ से भाग जा। यह कहते-कहते सुमन फिर मूर्च्छित हो गयी।"

यों तो इनकी सभी रचनाएँ खिचड़ी भाषा में हुई हैं—उनमें हिंदी-उर्दू का परिमार्जित सम्मिश्रण हुआ है; परंतु कथोपकथन में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है। उसमें यदि बोलने-वाला मुसलमान है तो उर्दू की तत्समता और यदि हिंदू है तो संस्कृत की तत्समता अधिक प्रयुक्त हुई है। इनका यह विचार उचित है अथवा अनुचित, स्वाभाविक है या अस्वाभाविक इसका विवेचन यहाँ समीचीन न होगा; अतएव केवल इतिवृत्त का ही प्रदर्शन कराया जाता है। प्रेमचंदजी को जहाँ कदाचित् अवसर प्राप्त हुआ है, वहाँ उन्होंने देहाती अथवा प्रांतीय भाषा का भी प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त साधारणतः उनके वाक्य छोटे-छोटे होते हैं। इनसे भाव-प्रकाशन में सुगमता अवश्य हुई है; परंतु धारा-प्रवाह में बड़ा विघ्न उपस्थित हुआ है। उनकी रचनाओं में—क्या उपन्यास, क्या छोटी-छोटी कहानियाँ, सबमें धारा-प्रभाव का बड़ा व्यतिक्रम पाया जाता है। भाव-व्यंजना बड़ी उखड़ी-पुखड़ी ज्ञात होती है। एक-एक वाक्य एक-एक बात लेकर अलग-विलग खड़े सामने आते हैं; एक के साथ दूसरे का कोई सामंजस नहीं। यह बात विशेषतः उन स्थानों में प्राप्त होती है जहाँ इतिवृत्तात्मक विवरण देना पड़ा है अथवा विषयोद्घाटन करना पड़ा है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्हें विषयारंभ में बड़ी दुरूहता का सामना करना पड़ा है। इसके अतिरिक्त इसका एक और कारण ज्ञात होता है। वह विषय का आकस्मिक आरंभ न होना है। प्रत्येक विषय के आरंभ में

कुछ न कुछ भूमिका बाँधना प्राचीन परिपाटी का उद्बोधन करना है। यह विचार केवल प्राचीन कहकर ही नहीं टाला जा सकता। इसकी दूसरी दुर्बलता यह है कि इसमें वैसा आकर्षण भी नहीं रहने पाता। अंग्रेजी साहित्य में स्कॉट के उपन्यासों में भी यह बात विशेष रूप से पायी जाती है। इससे पाठक का मन सहसा पाठ्य विषय में अनुरक्त नहीं होने पाता; वरन् भूमिका की झाड़ी में ही उलझकर रह जाता है। इसी भूमिका-भाग में प्रेमचंद की शैली विशेष उखड़ी जान पड़ती है। इन इतिवृत्तात्मक स्थलों में यदि नवीन और चमत्कारपूर्ण शैली को ग्रहण किया गया होता, तो इतना रूखापन न आने पाता। साथ ही पाठकों का चंचल चित्त भी विषय की ओर अविलंब आकृष्ट हो जाता।

यह शिथिलता सर्वत्र हो, यह बात नहीं है। भाषणों में स्थान-स्थान पर, जहाँ हृदय की उथल-पुथल का मार्मिक चित्र अंकित किया गया है, वहाँ स्वभावतः भाव-शैली के साथ-साथ भाषा-शैली भी संयत एवं रोचक हो गयी है। वहाँ उनके छोटे-छोटे वाक्य बड़े प्रभावशाली तथा आकर्षक हो गये हैं। इसके अतिरिक्त उन स्थानों पर धारा-प्रवाह का भी सुंदर निवहन पाया जा सकता है। यों तो ऐसे स्थान अधिक नहीं हैं; पर जो हैं, वे बड़े ही मनोहर हैं। एक-एक वाक्य दूसरे से भिड़े हुए हैं। इसी प्रकार भाव भी एक लड़ी में गुंफित दिखाई पड़ते हैं। भावों के परिष्कार के साथ-साथ आकर्षण भी बढ़ जाता है। ऐसे स्थानों पर वाक्य-समूह समाप्त किये बिना वाचक रुक ही नहीं सकता। जैसे—

"मनोरमा अचानक तन्मय-अवस्था में उछल पड़ी। उसे प्रतीत हुआ कि संगीत निकटतर आ गया है। उसकी सुंदरता और आनंद अधिक प्रखर हो गया था—जैसे बत्ती उकसा देने से दीपक अधिक प्रकाशमान हो जाता है। पहले चित्ताकर्षक था,

तो अब आवेशजनक हो गया था। मनोरमा ने व्याकुल होकर कहा—आह! तू फिर अपने मुँह से क्यों कुछ नहीं माँगता? आह! कितना विरागजनक राग है, कितना विह्वल करनेवाला। मैं अब तनिक भी धीरज नहीं धर सकती। पानी उतार में जाने के लिए जितना व्याकुल होता है, श्वास हवा के लिए जितनी विकल होती है, गंध उड़ जाने के लिए जितनी उतावली होती है, मैं उसी तरह उस स्वर्गीय संगीत के लिए व्याकुल हूँ। उस संगीत में कोयल की-सी मस्ती है; पपीहे की-सी वेदना है; श्यामा की-सी विह्वलता है—इसमें झरनों का-सा जोर है; आँधी का-सा वेग। इसमें सब कुछ है, जिसमें विवेकाग्नि प्रज्ज्वलित, जिससे आत्मा समाहित होता है, और अंतःकरण पवित्र होता है। माँ का अब एक क्षण का विलंब मेरे लिये मृत्यु की यंत्रणा है। शीघ्र नौका खोल। जिस सुमन की यह सुगंधि है, जिस दीपक की यह दीप्ति है, उस तक मुझे पहुँचा दे। मैं देख नहीं सकती, इस संगीत का रचयिता कहीं निकट ही बैठा हुआ है, बहुत ही निकट।"

('आत्म-संगीत' शीर्षक कहानी से)

श्री प्रेमचंदजी ने जिस समाज का चित्र अंकित करने का बीड़ा उठाया, वह दीन है। उसमें स्वर्गीय उल्लास नहीं है, उसमें उच्च भावनाओं का उन्माद नहीं है; यही कारण है कि विशेषतः उन स्थानों पर, जहाँ उन्हें कारुणिक अवस्था का वर्णन करना पड़ा है, वहाँ एक दीप्ति उत्पन्न हो गयी है। हमारे व्यावहारिक संसार में दीनता का साम्राज्य है। उसमें नित्यप्रति अधिकांश ऐसे उदाहरण प्राप्त होते रहते हैं, जिन्हें देखकर करुणा का उद्रेक हुए बिना नहीं रह सकता। दीन मनुष्यों का विवरण देते समय उनकी भाषा बड़ी मार्मिक और भाव-व्यंजना बड़ी ही द्रावक हुई

है। भाषा का अत्यंत चलता रूप ही उन्होंने अपनी रचनाओं में रखा है। बाबू देवकीनंदन खत्री की भाषा का यह संस्कृत और परिमार्जित रूप है। प्रेमचंदजी की प्रतिनिधिस्वरूप यही भाषा है। उसी का प्रयोग उन्होंने अधिकतर किया है।

—प्रो० जगन्नाथ शर्मा

प्रेमचंद्‌जी के उपन्यासों की सामयिक समस्याएँ

सामयिक विषयों को लेकर उपन्यास लिखने से साहित्य-रचना के साथ-साथ उन समस्याओं के विषय में लेखक को अपने विचार प्रकट करने का भी अवसर मिल जाता है। जनता में इनका जो सम्मान होता है, उसके भी दो कारण हैं। एक तो उनके पढ़ने से उसका मनोरंजन होता है और दूसरे प्रचलित विषयों के संबंध में एक योग्य लेखक के विचार मालूम होते हैं। इससे उनके संबंध में अपना मत निर्धारित करने में सहायता मिलती है। इन उद्देश्यों की पूर्त्ति तभी होती है जब सामयिक विषयों को इस प्रासंगिक रूप से अपनाया जाय कि पाठकों का ध्यान मूल कथानक की ओर से विचलित (Disturbed) न हो। यह कार्य सरल नहीं है, और लेखक के जरा-सा चूकने पर ही अर्थ का अनर्थ होने की संभावना रहती है। हर्ष की बात है कि हमारे प्रेमचंद्‌जी ने अपने उपन्यासों में इस बात का उचित ध्यान रखा है। सामयिक समस्याओं पर उन्होंने कभी कथोपकथन द्वारा और कभी सीधी-सादी या हास्य और व्यंग्यपूर्ण शैली में इस ढंग से विचार किया है कि पाठकों का जी नहीं ऊबता। हो सकता है कि

दो-एक स्थल, अपवाद स्वरूप भी हों; पर उनका एक विशेष कारण—विवशता—है जिसकी विवेचना फिर कभी की जायगी।

प्रेमचंदजी का सबसे पहला उपन्यास 'सेवासदन' है। इसकी समस्या मुख्यतः सामाजिक है। स्थान-स्थान पर कुछ तो विषय की संबद्धता और कुछ उद्देश्य की अस्पष्टता के कारण धर्म की विवाद-ग्रस्त बातों—धर्म के ठेकेदारों के पाखंड, धर्म में फैली हुई कुरीतियाँ, धर्म के नाम पर किया जानेवाला अत्याचार आदि—पर भी विचारात्मक प्रकाश डाला गया है। बस, 'सेवा-सदन' में तत्कालीन सामयिक समस्याओं में सामाजिक और धार्मिक, इन्हीं दो को मुख्यतः अपनाया गया है। एक-दो स्थान पर भाषा, साहित्य, शिक्षा आदि की तत्कालीन दशा के विषय में भी संकेत किया गया है; पर वह बहुत कुछ प्रासंगिक ही है। उसे हम मुख्य विषय से संबद्ध या उसके अंतर्गत नहीं मान सकते।

सन् १९१४ के यूरोपीय महासमर के साथ भारत में भी स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए जोर-शोर से प्रयत्न किया जाने लगा। साधारण जनता ने इस राजनीतिक आंदोलन को इतने महत्त्व की दृष्टि से नहीं देखा जितना इससे संबंध रखनेवाली कृषक और ग्राम-समस्या के आंदोलन को। मूलतः दोनों आंदोलनों का लक्ष्य एक ही उद्देश्य की पूर्त्ति मानी जा सकती है। किसानों की दशा सुधरने पर ही वे हमारे साथ रह सकते हैं और तभी स्वतंत्रता प्राप्ति-संबंधी उद्योग में उनकी सम्मिलित शक्ति से—यह बात मैं अत्यंत संक्षेप में, बिना किसी प्रकार की व्याख्या किए ही कह रहा हूँ—हमें अपने प्रयत्न में सफलता मिल सकती है। प्रथम राजनीतिक आंदोलन के लिए देश को विशेष रूप से तैयार होने की आवश्यकता थी और दूसरी ओर जनता से पूर्ण सहयोग की पूरी आशा। महात्मा गाँधी ने जो आरम्भ में

किसानों की दशा सुधारने की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया, उसका मुख्य कारण यही जान पड़ता है। 'प्रेमाश्रम' की रचना के समय तक महात्मा गाँधी का यह आंदोलन आरंभ हो चुका था, उसकी ख्याति भी हो चुकी थी और लोग उसका सम्मान भी करने लगे थे। अतः, जब प्रेमचंदजी को अपने पाठकों के सामने—उन्हीं पाठकों के सामने जो अंग्रेजी और बँगला के उपन्यासों की प्रशंसा करते न थकते थे; परंतु अपनी संकुचित दृष्टि और ईर्ष्यालु प्रकृति के कारण 'सेवासदन' को श्रेष्ठ स्वीकार करते हुए भी उसकी श्रेष्ठता स्वीकार करने में हिचकते थे—किसी ऐसी चीज के रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई जो उनका ध्यान आकृष्ट कर सके, जिसका वे सम्मान कर सकें और जिसे खरीदने के लिए वे सहर्ष पैसा खर्च करने को भी तैयार हो जायँ। तब उन्होंने उस 'प्रेमाश्रम' की रचना की जिसका मुख्य विषय तत्कालीन राजनीतिक समस्या से सम्बद्ध होता हुआ भी सर्वथा स्वतंत्र है; सामयिक होते हुए भी भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए सर्वकालीन है। उपन्यास-कला की दृष्टि से यदि हम 'प्रेमाश्रम' की आलोचना करके उसका यथार्थ महत्त्व और उचित मूल्य निर्धारित करने का प्रयत्न न भी करें अथवा इस दृष्टि-कोण से हिंदी के उपन्यासों में उसका निर्दिष्ट स्थान हम स्वीकार ही न करें, तब भी उसका पठन-पाठन कम नहीं हो सकता। इसका एकमात्र कारण है उपन्यास का मुख्य विषय, उसमें वर्णित ग्राम-समस्या, जिसके वर्त्तमान प्रवर्त्तक हैं महात्मा गाँधी। 'प्रेमाश्रम' जिस समय प्रकाशित हुआ था, उस समय कुछ आलोचकों ने दबी जबान से यह कहने का साहस किया था कि उसके मुख्य पात्र प्रेमशंकर के, इस समस्या से संबंध रखनेवाले विचारों पर महात्मा गाँधी के विचारों और नवीन आदर्शों की

स्पष्ट छाप है। हम भी इससे सहमत हैं। बीच-बीच में, प्रसंगानुसार, शासन-प्रबंध और डाक्टरी, वकालत आदि व्यवसायों तथा यतीमखानों की वास्तविक स्थिति के संबंध में जो सुधारात्मक विचार प्रेमशंकर अथवा उनके मित्रों के मुख से कहलाये गये हैं, उन्हें हम प्रेमचंदजी के निजी विचारों का विवेचनात्मक प्रकटीकरण कह सकते हैं। कुछ सामाजिक और धार्मिक प्रसंगों का भी 'प्रेमाश्रम' के मूल और प्रधान विषय से संबंध था। 'सेवासदन' की इन समस्याओं को भी परिशिष्ट के रूप में 'प्रेमाश्रम' में गौण स्थान मिला है।

अब, 'रंगभूमि' को लीजिये। 'प्रेमाश्रम' में ग्राम्य-समस्या के जिस पहलू का आकर्षक चित्र खींचा गया है, वह प्रारंभिक ही है। किसानों की वर्तमान दीन दशा, उनपर होनेवाले अत्याचार और उसके कारण, अत्यंत संक्षेप में, केवल इन्हीं के विषय में प्रेमचंदजी ने अपने विचार रोचक-ढंग ये व्यक्त किये हैं। यह विषय नया नहीं था ; कई सौ वर्षों से भारतीय किसानों की ऐसी ही दशा रही थी। उपन्यास का महत्त्व इस बात में है कि उसमें सभी आवश्यक बातों को एकत्र करके, सुधार-संबंधी उपायों की ओर कलात्मक ढंग से संकेत किया गया है। ये उपाय विशेषत: पुराने ढंग के हैं और इनमें मुख्यत: जमींदारों को अपना नैतिक जीवन और आचरण सुधारने की आवश्यकता बताई गयी है। वैज्ञानिक उन्नति के वर्त्तमान युग में ये सुधार-प्रस्ताव आवश्यक होते हुए भी अपूर्ण हैं। अत:, 'रंगभूमि' में प्रेमचंदजी ने ग्राम-समस्या के उस पहलू की रोचक व्याख्या की, जिसमें कृषि-संबंधी सुधार की ओर विशेष ध्यान न देकर औद्योगिक धंधों की उन्नति करने के लिये देश में कल-कारखानों की आवश्यकता बताई गयी है। हो सकता है कि उन पाश्चात्य शीत-प्रधान देशों अथवा

पहाड़ी स्थानों में इनसे लाभ हुआ हो, जहाँ अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हो चुके हैं, जहाँ खाद्य पदार्थों की उपज संतोषजनक नहीं होती ; परंतु भारत के लिये यह बात ठीक नहीं। यहाँ के तो अधिकांश निवासियों का मुख्य उद्यम खेती करना ही है। यही कारण है कि 'रंगभूमि' में प्रेमचंदजी ने भारत के लिये कल-कारखानों की अनुपयुक्तता पर ही जोर दिया है।

'प्रेमाश्रम' में शहरों के शासन के संबंध में संकेतमात्र किया गया है ; 'रंगभूमि' में इस विषय की अपेक्षाकृत विस्तृत विवेचना है। 'गबन' के अंतिम पृष्ठों में 'प्रेमाश्रम' के ढंग पर ही अदालतों की वर्त्तमान स्थिति के संबंध में थोड़ा-बहुत लिखा गया है, जिसे आलोचकों ने अनुपयुक्त बताते हुए अयथार्थ कहा है। हमें भी इस वर्णन से संतोष नहीं। हाँ, 'कर्मभूमि' में उपन्यासकार ने 'रंगभूमि' के नागरिक शासन-संबंधी वर्णनों का जो विस्तार दिया है, वह पूर्ण है, और पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने में समर्थ भी। इन उपन्यासों में अन्य सामयिक समस्याओं का जो वर्णन मिलता है, वह बहुत साधारण है। कहा जा सकता है कि 'रंगभूमि' में देशी रियासतों, 'गबन' में पुलिस के हथकंडों और 'कर्मभूमि' में स्वतंत्रता-संबंधी-आंदोलन के विषय में जो कुछ कहा गया है, वह विशेष महत्त्व का है। हमारी सम्मति में प्रेमचंदजी ने इनमें से केवल अंतिम की ओर थोड़ा ध्यान दिया है। 'रंगभूमि', 'गबन' और 'कर्मभूमि', तीनों उपन्यासों में इस आंदोलन के संबंध में जो विचार प्रकट किये हैं, उनका यदि संकलन किया जाय तो हमें इसका सच्चा इतिहास प्राप्त हो सकता है।

'कायाकल्प' का विषय इन सब उपन्यासों से भिन्न है। उसका मूल विषय, एक तरह से, एक है ही नहीं ; प्रसंगानुसार उसमें समाज, धर्म, राजनीति, राजमद, गार्हस्थ्य जीवन, सभी के

विषय में कुछ न कुछ कहा गया है। हाँ, इसकी एक समस्या सामयिक और महत्त्वपूर्ण है। हिंदुओं और मुसलमानों में भिन्न धार्मिक आदर्शों के कारण जो पारस्परिक विरोध बढ़ता जा रहा है, उसी की ओर इसमें एक स्थल पर संकेत किया गया है। इस विरोध का केवल एक ही दृश्य प्रेमचंदजी ने दिखाया है; परंतु है वह बड़ा चमत्कारपूर्ण और शिक्षाप्रद, इसमें संदेह नहीं।

सबसे अंतिम उपन्यास 'गोदान' है। इसकी रचना हुए अभी चार-पाँच ही वर्ष हुए हैं। अतः, जिन-जिन समस्याओं को लेकर इसके कथानक का संगठन किया गया है, वे आज भी ज्यों की त्यों सामयिक ही बनी हुई हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न जिसपर इसमें विचार किया गया है, ग्राम-समस्या का है। 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि', दोनों में, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्रेमचंद-जी पहले भी इस विषय पर भली भाँति प्रकाश डाल चुके थे। परंतु, जिस प्रकार 'रंगभूमि' में 'प्रेमाश्रम' में वर्णित समस्या को छोड़कर, उसके विकसित रूप की विवेचना की गयी है; दूसरे शब्दों में जैसे 'प्रेमाश्रम' में ग्राम-समस्या के पूर्वार्द्ध और 'रंग-भूमि' में उत्तरार्द्ध पर प्रकाश डाला गया है, उसी प्रकार गोदान में क्रमानुसार जैसा होना चाहिए था, 'रंगभूमि' की समस्या का विकसित रूप नहीं मिलता; प्रत्युत 'गोदान' की समस्या 'प्रेमा-श्रम' में वर्णित विषय के ही अधिक समीप है। विशेषता इसमें केवल इतनी है कि उपन्यासकार ने अपने इस अंतिम उपन्यास (गोदान) में यथावसर थोड़े परिवर्तन भी किये हैं। 'प्रेमाश्रम' की रचना के समय थोड़े से ही व्यक्ति ग्राम-समस्या के प्रश्न पर विचार कर रहे थे; परंतु वर्त्तमान समय में, इसके विपरीत जनता, काँग्रेस और सरकार सभी इसी विषय में रुचि ले रहे (interested) हैं। यही बात 'गोदान' में भी मिलती है।

सामाजिक और धार्मिक रचनाओं के विषय में भी यही सत्य है। परिणामस्वरूप 'गोदान' में एक ओर तो ग्रामों की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक स्थितियों की वर्त्तमान दशा का दिग्दर्शन कराया गया है और दूसरी ओर निकटतम संबंधित उन नागरिकों के आचार-विचार, रहन-सहन, वेश-भूषा और उद्देश्य-आदर्श का, जो नगरों में शान-शौकत से रहते हैं, सुख से जीवन बिताते हैं और शहरों के पचासों आदमियों को अपना गुलाम समझते हैं। राजनीतिक शब्दावली में इन नागरिकों को पूँजीपतियों के नाम से पुकारा गया है। वर्त्तमान समय में इनका जो विरोध किया जा रहा है, उसके संबंध में प्रेमचंदजी ने अधिक नहीं लिखा; परंतु उन्होंने यह अवश्य दिखा दिया कि सुधार करने की इच्छा रखनेवाले अधिकांश पूँजीपति अपने शुभ प्रयत्न में किन-किन कारणों से असफल रहते हैं।

यह तो हुई पूँजीपतियों के आंतरिक जीवन की बात। सामाजिक स्थिति के कारण उनकी विवशता और भी बढ़ गयी है। एक तो उन्हें समाज में अपनी नाक के लिए अपव्यय और अपनी मर्यादा बनाये रहने के लिए असंख्य प्राणियों पर अत्याचार करना पड़ता है और अपने अफसरों की निगाह में स्वामिभक्त बने रहने के लिए उनकी जैसी-तैसी आज्ञाओं का पालन; साथ ही पारिवारिक जीवन भी उनका सुखद नहीं है। उनके पुत्र उनका सम्मान करने में हिचकते हैं, उनकी पुत्रियाँ उनका कहना मानने को तैयार नहीं होतीं। इन कठिनाइयों और विवशताओं के लिए तो हम उनके साथ सहानुभूति प्रकट करेंगे; परंतु जब वे अपने भौतिक सुखों की लालसा से—'गोदान' में हम यही देखते हैं—अपनी सती-साध्वी स्त्री का अपमान करते हैं, अथवा निर्धन-निरीह किसानों के पसीने की कमाई निर्दयता के

साथ वसूल करके पानी की तरह बेदर्दी से बहाते हैं, तब हमें संतोष नहीं होता। पूँजीपतियों का जो विरोध आज हो रहा है, प्रेमचंदजी ने भी उसका यही कारण बताया है; यहाँ तक कि हड़ताल की तरफ संकेत करना भी नहीं भूले हैं।

'गोदान' की दूसरी महत्त्वपूर्ण और नयी समस्या स्त्री-शिक्षा और उनका स्वतंत्रता-संबंधी आन्दोलन है। इस उपन्यास में जिन-जिन आधुनिक समस्याओं की विवेचना अथवा व्याख्या की गयी है ,उनमें यही सबसे प्रधान है। इस संबंध में प्रेमचंदजी ने अपने एक विद्वान् और योग्य प्रोफेसर द्वारा एक व्याख्यान भी दिलाया है। इस आन्दोलन के विषय में यहाँ अधिक नहीं कहना है; क्योंकि यह एक स्वतंत्र लेख का विषय है। अतः, हम केवल इतना ही कहकर यह प्रसंग समाप्त करते हैं कि स्त्री-शिक्षा के कट्टर पक्षपाती होते हुए भी प्रेमचंदजी प्राचीन भारतीय आदर्श के ही अनुयायी जान पड़ते हैं और वर्तमान समाज में अपनी स्वतंत्रता के लिए प्रयत्नशील युवतियों की स्वच्छंदता-प्रियता उन्हें पसंद नहीं। 'गोदान' में वे इसका विरोध करते दिखाई देते हैं।

हिन्दी-पत्रकारों की स्थिति, नगरों में मजदूरों की दीन और दयनीय दशा, बेकारी की बढ़ती हुई समस्या, गाँवों में सफाई का प्रश्न, धार्मिक पाखंड और अंधविश्वास आदि अन्य अनेक छोटी-मोटी समस्याएँ हैं जिनपर प्रेमचंदजी ने 'गोदान' में, उसके पहले लिखे अपने अन्य उपन्यासों में भी, यत्र-तत्र प्रकाश डाला है, जो बहुत चलताऊ है। इनके विषय में हम भी कुछ नहीं कहना चाहते। हाँ, जिन मुख्य-मुख्य समस्याओं की विवेचना हमने ऊपर की है, उनका पूरा इतिहास हमें प्रेमचंदजी के उपन्यासों में मिलता है। इनका कार्यक्रम बद्ध है। दूसरी बात यह है कि प्रेमचंदजी के विचार, इन समस्याओं के संबंध में किस

प्रकार बदलते रहे हैं, उनके उपन्यासों के पढ़ने से हमें यह भी ज्ञात होता है। इन्हीं दोनों कारणों से हम कह सकते हैं कि यद्यपि रोचकता, कला आदि विशेषताओं में हिन्दी-साहित्य के अन्य उपन्यास, प्रेमचंदजी के उपन्यासों की अभी बराबरी नहीं कर सकते; तथापि संभव है, दस-पाँच वर्ष बाद कोई समय ऐसा आवे, जब इनसे श्रेष्ठतर उपन्यास हिन्दी में लिखे जायँ ; उस समय भी अपने सामाजिक समस्याओं के विवेचनात्मक और क्रमबद्ध वर्णन के कारण प्रेमचंदजी के उपन्यासों का पर्याप्त सम्मान होगा, और इस वर्तमान समय की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक स्थिति का इतिहास लिखनेवाले के लिए तो ये उपन्यास इतिहास-ग्रन्थों का-सा काम देंगे।

—श्री प्रेमनारायण टंडन

One must love, but not
be loved,